



## दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति

(South Indian Cinema and Politics)

सिनेमा और मनोरंजन के क्षेत्र की हस्तियों द्वारा राजनीति में हस्तक्षेप करके उसके शिखर पर पहुँचने की परिघटना नयी नहीं है। अमेरिकी राष्ट्रपति के रूप में रोनाल्ड रेगन, कैलिफ़ोर्नियाई गवर्नर के रूप में अर्नोल्ड श्वार्ज़नेगर और श्रीलंका के राष्ट्रपति के रूप में राजपक्षे की शीर्ष भूमिका इसका प्रमाण है। भारतीय राजनीति में भी फ़िल्म स्टार अपनी लोकप्रियता का लाभ उठा कर स्वयं चुनाव जीतते हैं या किसी अन्य उम्मीदवार का प्रचार करके उसे चुनाव जिताने में मदद करते हैं। दक्षिण भारत में उन्होंने स्थापित पार्टियों की सदस्यता तो ग्रहण की ही है, साथ में अपने अलग दलों के गठन का रवैया भी अख़्तियार किया है ताकि सत्ता के समीकरणों को सीधे-सीधे प्रभावित किया जा सके। लेकिन सिनेमा और राजनीति का जैसा परस्पर-निर्भर संबंध तमिलनाडु में विकसित हुआ है वैसा दुनिया में और कहीं नहीं दिखता। तमिलनाडु के पिछले पाँच मुख्यमंत्री फ़िल्मों के एक्टर या लेखक रह चुके हैं। किसी भी समाज में सांस्कृतिक परिवर्तन के विचारधारात्मक एजेंट के रूप में सिनेमा की प्रभावशाली क्षमता पहले से ही जानी-मानी है, पर तमिलनाडु के द्रविड़ आंदोलन ने पिछले पचास साल में इस माध्यम का नियोजित प्रचारात्मक इस्तेमाल करके उसे एक प्रबल राजनीतिक-सामाजिक शक्ति का रूप दे दिया है। इस फ़िल्मी राजनीति से केंद्रीय और क्षेत्रीय राजनीति के समीकरण का एक प्रारूप भी निकला है जिसे तमिलनाडु मॉडल के नाम से

जाना जाता है।

1931 में 'कालिदास' के निर्माण के साथ तमिल सवाक् फ़िल्मों की शुरुआत हुई। इससे पहले ही 1925 में पेरियार ई.वी. रामस्वामी नायकर द्रविड़ आंदोलन की स्थापना कर चुके थे। जाति आधारित सामाजिक कोटिक्रम के खिलाफ़ उनका आत्मसम्मान आंदोलन तेज़ी से लोकप्रियता प्राप्त कर रहा था। मूक सिनेमा की समाप्ति ने तमिल रंगमंच के एक्टरों के लिए फ़िल्मों में प्रवेश के लिए रास्ता साफ़ किया। तमिल सिनेमा पर पड़ा पहला राजनीतिक असर गाँधीवाद का था। के.बी. सुंदरम्बल जैसे फ़िल्मी सितारे कांग्रेस द्वारा अपनी सभाओं में यदा-कदा पेश किये जाते थे। लेकिन कांग्रेस की राजनीति और फ़िल्मों का रिश्ता इस मक़ाम से आगे नहीं बढ़ा। उसके प्रमुख नेताओं में इस माध्यम की उपयोगिता के बारे में संशय था जिसकी अभिव्यक्ति आगे चल कर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी द्वारा फ़िल्मों को नैतिक भ्रष्टाचार का स्रोत बताने में हुई। यही वह समय था जब नाटकों द्वारा अपनी राजनीतिक-सामाजिक विचारधारा का प्रोपेगंडा करने में कुशल हो चुके द्रविड़ आंदोलन के नेताओं ने सेल्यूलाइड की प्रचारात्मक सम्भावनाओं की शिनाख़्त की (द्रविड़ आंदोलन का पहला दफ़्तर नाटकों के प्रदर्शन से जमा किये गये धन से ही ख़रीदा गया था)। आज़ादी के बाद कांग्रेस के राष्ट्रीय अध्यक्ष नाडर कामराज तो यह मानने के लिए तैयार ही नहीं हुए कि फ़िल्म एक्टर सरकार भी बना सकते हैं। लेकिन द्रविड़ मुनेत्र कषगम (द्रमुक) के संस्थापक सी.एन. अन्नादुरै का इरादा कुछ और था। जल्दी ही पेरियार की विचारधारा से प्रभावित गुरिल्ला-थिएटर के अभिनेता और लेखक सेल्यूलाइड पर तमिल-राष्ट्रवाद और ब्राह्मणवाद विरोध की विषयवस्तुओं का चित्रण करने लगे। इन फ़िल्मों में पार्टी का चिह्न दिखाते हुए स्वतंत्र द्रविणनाडु की दावेदारी खुल कर की



मदरूर गोपाल रामचंद्रन ( 1917-1987)

जाती थी। अन्नादुरै और उनके शिष्य एम. करुणानिधि ने अपनी पटकथाओं और संवाद लेखन के जरिये न केवल समाज सुधार के द्रविड़ आंदोलन से जुड़े विचारधारात्मक उद्देश्यों को रेखांकित किया, बल्कि तमिल भाषा को संस्कृत के शब्दों से मुक्त करने का नियोजित प्रयास भी किया ताकि उसे आर्य परिवार के बजाय द्रविड़ परिवार की भाषा के रूप में स्थापित किया जा सके। 1948 से 1957 के बीच बनी द्रविड़ फ़िल्में ज़मींदारी उन्मूलन और समाज सुधार के अन्य प्रश्नों को सम्बोधित करती थीं। 1951 में करुणानिधि के लेखन के आधार पर बनी फ़िल्म 'पराशक्ति' तमिल सिनेमा के लिए मील का पत्थर साबित हुई। क़ानून और संविधान की कई स्थापनाओं को कांग्रेस विरोधी तेवर के साथ चुनौती देने वाली इस फ़िल्म को शुरू में प्रतिबंधित कर दिया गया, पर 1952 में प्रदर्शित होते ही इसने लोकप्रियता के झंडे गाड़ दिये। 'पराशक्ति' की शुरुआत द्रविड़ संस्कृति की सराहना करने वाले गीत के साथ होती है। इसमें नायक की भूमिका शिवाजी गणेशन ने की थी जो तमिल मूल के थे। उनसे पहले तमिल फ़िल्मों में ज़्यादातर तेलुगु मूल के अभिनेता काम करते थे। 'पराशक्ति' के बाद बनायी गयी फ़िल्मों 'पनम' और 'थंगरत्नम' ने विधवा पुनर्विवाह, छुआछूत और धार्मिक पाखण्ड के खिलाफ़ आवाज़ बुलंद की।

समाज-वैज्ञानिकों ने सामाजिक समता के विचार के प्रबल पैरोकार द्रविड़ आंदोलन और फ़िल्म थिएटर में दर्शकों

के बैठने के विन्यास के बीच अनुकूलता की शिनाख़्त की है। के. शिवथम्बी का अवलोकन है, 'सिनेमा हाल एक ऐसा पहला प्रदर्शन-केंद्र था जिसमें सभी तमिल एक ही छत के नीचे बैठते थे। बैठने का विन्यास किसी कोटिक्रम के मुताबिक नहीं था, बल्कि वह क्रय-शक्ति के आधार पर तय होता था। अगर कोई ऊँची दर का टिकट नहीं खरीद सकता था तो या तो उसे सिनेमा देखने से वंचित रहना होगा या फिर साधारण लोगों के साथ बैठना होगा।' द्रविड़ आंदोलन द्वारा प्रायोजित फ़िल्मों ने एक ऐसे विशाल दर्शक वर्ग को राजनीतिक आधार बनाने के लिए प्रस्तुत किया जो द्रमुक को अन्यथा नहीं मिल सकता था। शुरू में कांग्रेस सरकार ने पार्टी और फ़िल्मों के इस संयोग पर ध्यान नहीं दिया, पर द्रमुक की लोकप्रियता बढ़ने के साथ ही इन फ़िल्मों पर सेंसर की कड़ी निगाह पड़ने लगी। सेंसर करने वाले अधिकार इन फ़िल्मों की बेतहाशा कटाई-छँटाई करने लगे। ड्रैमैटिक लाइसेंसिंग एक्ट जैसे क़ानून का सहारा ले कर द्रमुक नेताओं द्वारा लिखे गये नाटकों पर भी पाबंदी लगायी जाने लगी। करुणानिधि द्वारा लिखे गये दो नाटक प्रतिबंधित कर दिये गये। सरकारी प्रकोप से बचने के लिए पटकथा लेखकों ने द्विअर्थी और राजनीतिक निहितार्थों वाले संवादों का सहारा लेना शुरू किया। इन्हें सेंसर नहीं किया जा सकता था और दर्शकों तक इच्छित मतलब आसानी से पहुँच जाता था।

लोकप्रिय फ़िल्म अभिनेताओं द्वारा द्रविड़ विचारधारा अपनाये जाने ने भी तमिल फ़िल्मों और राजनीति के अभूतपूर्व समीकरण को बल प्रदान किया। चालीस और पचास के दशक में प्रतिभाशाली अभिनेता और गायक के.आर. रामस्वामी न केवल द्रमुक के संस्थापक नेता थे, बल्कि उन्होंने आंदोलन को आर्थिक मदद देने में भी संकोच नहीं किया। हालाँकि तमिल फ़िल्म उद्योग पर ब्राह्मणों का वर्चस्व था, लेकिन ग़ैर-ब्राह्मण हास्य अभिनेता एन.एस. कृष्णन द्रमुक विचारधारा का प्रचार करने के लिए फ़िल्मों में नियमित रूप से एक मूर्ख ब्राह्मण की भूमिका करने के बाद इन्हीं भूमिकाओं को द्रमुक की जनसभाओं में भी मंच पर दोहराते थे। अन्नादुरै और करुणानिधि रंगमंच के स्थापित अभिनेता एम.आर. राधा के नाटक दल के सदस्य थे और समय-समय पर उनके नाटकों में अभिनय भी करते थे। द्रविड़ आंदोलन में विभाजन होने से पहले एम.आर. राधा की इन दोनों की राजनीति में प्रमुख भूमिका थी। एक अन्य अभिनेता एस.एस. राजेंद्रन भी द्रविड़ आंदोलन को जबरदस्त आर्थिक मदद देने के लिए जाने जाते हैं।

तमिल फ़िल्मों के आकाश पर शिवाजी गणेशन और मदरूर गोपाल रामचंद्रन (एमजीआर) के उदय का द्रविड़ आंदोलन के भविष्य से गहरा संबंध है। 'पराशक्ति' के हिट होते ही गणेशन द्रविड़ कषगम और द्रविड़ मुनेत्र कषगम से

जुड़ गये और सांगठनिक जिम्मेदारियाँ भी निभाने लगे। लेकिन गणेशन को जल्दी ही लगने लगा कि राजनीतिक व्यस्तता और उसके आधार पर बनी विचारधारात्मक छवि एक अभिनेता के रूप में उनके करियर पर विपरीत असर डाल रही है। द्रविड़ आंदोलन के सदस्य के रूप में शिनाख्त हो जाने के कारण धार्मिक आस्थाओं वाले दर्शक भी उनकी सिनेमाई शिखिसयत से दूर होते जा रहे थे। गणेशन द्वारा तिरुमला वेंकटेश्वर मंदिर में जा कर पूजा-अर्चना करने पर नास्तिकवाद का समर्थन करने वाली द्रमुक ने कड़ा रुख अपनाया। गणेशन ने पार्टी छोड़ दी और ई.वी.के. सम्पत की तमिल नेशनलिस्ट पार्टी में शामिल हो गये जिसके भंग हो जाने के बाद उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली। 1967 में कांग्रेस की पराजय के बाद शिवाजी गणेशन के प्रशंसकों ने पार्टी को टिकाये रखने की भूमिका निभायी। 1989 में शिवाजी ने अपनी पार्टी तमिषगा मुनेत्र मुन्नानी का गठन किया जिसे 1991 के चुनाव में करारी हार का मुँह देखना पड़ा।

एमजीआर शिवाजी की तरह तमिल मूल के न हो कर केरल के रहने वाले थे। इसलिए द्रविड़ गौरव का तर्क स्वीकार करने में उन्हें थोड़ा समय लगा। शुरू में उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ उन्हें कांग्रेस के साथ ले गयीं। वे खादी के कपड़े पहनते और रुद्राक्ष की माला धारण करते। दर्शकों में उनकी लोकप्रियता का आधार केवल फ़िल्में ही न हो कर उनकी सामाजिक गतिविधियाँ भी थीं। नेता बनने से पहले ही एमजीआर गरीबों की उदारता से मदद करने वाली फ़िल्मी हस्ती के रूप में जम चुके थे। इसी लोकप्रियता का फ़ायदा उठाने के लिए अन्नादुरै ने पचास के दशक में उन्हें द्रमुक की फ़िल्मों में काम करने का आमंत्रण दिया। जल्दी ही एमजीआर का सितारा द्रमुक में चढ़ने लगा। गणेशन जैसे-जैसे पार्टी से दूर गये, एमजीआर नज़दीक आये। वे अपनी फ़िल्मों में एक ऐसे परोपकारी, पराक्रमी, गरीबों के दोस्त और फ़क्कड़ हीरो की भूमिका करते थे जिसे अंत में राजगद्दी मिल जाती थी। उन्हें अक्सर लाल और काली पोशाक पहनायी जाती थी जो द्रमुक के झंडे का रंग भी था। अन्नादुरै का मानना था कि एमजीआर का केवल चेहरा ही द्रमुक को चालीस हज़ार वोट दिलवाने की हैसियत रखता है, और अगर वे कुछ शब्द भी बोल दें तो वोटों की संख्या चार लाख तक हो जाती है।

1967 के चुनाव में द्रमुक की जीत के बाद अन्नादुरै मुख्यमंत्री बने। दो साल बाद हुई मृत्यु के बाद उनकी गद्दी करुणानिधि ने संभाली। उन्होंने अपने बेटे एम.के. मुत्तु को फ़िल्मों और प्रकारांतर से पार्टी में जमाने के लिए एमजीआर की जगह बैठाने की कोशिश की। एमजीआर के प्रशंसकों के क्लबों को मुत्तु के प्रशंसकों के क्लबों में बदलने का प्रयास

किया गया। इस विवाद का परिणाम यह हुआ कि 1975 में एमजीआर ने द्रमुक छोड़ कर अपनी पार्टी अन्नाद्रमुक बना ली जिसे करुणानिधि ने महज़ 'सौ दिन चलने वाली फ़िल्म' करार दिया। लेकिन उनका यह फ़िकरा ग़लत साबित हुआ। एमजीआर ने निचले तबक़े से आने वाले अपने प्रशंसकों और समर्थकों की मदद से 1977 का चुनाव जीत कर अपनी मृत्यु तक मुख्यमंत्री की गद्दी पर से क़ब्ज़ा नहीं छोड़ा। भारतीय राजनीति में एमजीआर का योगदान 'तमिलनाडु मॉडल' के नाम से जाना जाता है। करुणानिधि की तरह उन्होंने ग़ैर-कांग्रेसवाद की राजनीति नहीं की, और इंदिरा गाँधी से समझौता करके केंद्र में उन्हें समर्थन देना जारी रखा। बदले में कांग्रेस तमिलनाडु में उन्हें सीनियर पार्टनर मानती रही।

एमजीआर के निधन के बाद उनके राजनीतिक उत्तराधिकार पर हुए विवाद में उनकी पत्नी एस. जानकी को जयललिता जयराम से पराजित होना पड़ा। ये दोनों ही तमिल फ़िल्मों की अभिनेत्रियाँ थीं। जयललिता 1991-96 और 2001-06 के बीच राज्य की मुख्यमंत्री रह चुकी हैं।

इस समय तमिलनाडु के दो सबसे लोकप्रिय फ़िल्म कलाकार रजनीकांत और कमल हासन हैं। कमल हासन पेरियार की विचारधारा से तो सहमत हैं, पर सक्रिय राजनीति में उनकी कोई रुचि नहीं है। पर रजनीकांत द्रमुक और उनसे गठजोड़ करने वाली पार्टी तमिल मनीला कांग्रेस (टीएमसी) का समर्थन करते रहे हैं। 2004 के लोकसभा चुनाव में उन्होंने भाजपा का समर्थन किया था। हाल ही में एक और लोकप्रिय तमिल अभिनेता कांग्रेस समर्थक परिवार में पैदा हुए विजयकांत ने देसीय मुरपोक्कुम द्रविड़ कषगम (डीएमडीके) बना कर राजनीति को प्रभावित करने की कोशिश की है।

**देखें :** आत्म सम्मान आंदोलन, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, द्रविड़ आंदोलन, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम।

### संदर्भ

1. एम. माधव प्रसाद (1999), 'सिने-पॉलिटिक्स : ऑन द पॉलिटिकल सिग्नीफ़िकेंस ऑफ़ सिनेमा इन साउथ इण्डिया', *जर्नल ऑफ़ मूविंग इमेज*.
2. सारा डिकी (1993), 'पॉलिटिक्स ऑफ़ एडुलेशन : सिनेमा ऐंड द प्रोडक्शन ऑफ़ पॉलिटीशियंस इन साउथ इण्डिया', *द जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, खण्ड 52, अंक 2.
3. रॉबर्ट एल. हार्डग्रेव (1993), जूनियर, 'पॉलिटिक्स ऐंड द फ़िल्म इन तमिलनाडु : द स्टार्स ऐंड द डीएमके', *एशियन सर्वे*, खण्ड 13, अंक 3.
4. एम. माधव प्रसाद (2006), 'फ़ॉम वर्चुअल टू रियल पॉलिटिकल पाँवर : फ़िल्म स्टार एंटर इलेक्टोरल पॉलिटिक्स', *वर्किंग पेपर : एशिया रिसर्च इंस्टीट्यूट*, नेशनल युनिवर्सिटी ऑफ़ सिंगापुर.

## द्रविड़ आंदोलन

(Dravid Movement)

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से ही द्रविड़ आंदोलन और उसके गर्भ से उत्पन्न हुए राजनीतिक दलों ने तमिलभाषी क्षेत्र की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इस आंदोलन ने जाति और भाषा के सवाल को राजनीति में केंद्रस्थ किया और कुछ द्रविड़वादी संगठनों ने धर्म या उसके कुछ पहलुओं की तीखी आलोचना भी की। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के आखिरी दौर में द्रविड़ आंदोलन ने दक्षिण भारतीयों, खासतौर पर तमिलों के बीच हिंदी और उत्तर भारतीयों के वर्चस्व के खिलाफ आवाज उठायी। हालाँकि शुरुआत में इसका समर्थन समाज के कुछ तबकों तक की सीमित था, पर 1967 के बाद से तमिलनाडु पर इस आंदोलन के कारण सामने आये राजनीतिक दलों का ही शासन है। द्रविड़ पार्टियों का समर्थन आधार समाज के पिछड़े तबकों से बनता है। इसीलिए उन्होंने राज्य की सामाजिक नीतियों में इस तरह बदलाव किया कि मध्यम और निचले सामाजिक समूहों को ज्यादा प्रतिनिधित्व और शक्ति मिली। द्रविड़ राजनीति ने जातीयता को जिस तरह से व्यक्त किया उससे अंततः लोकतंत्र को मजबूती मिली, यद्यपि शुरू में ऐसा लगता था कि यह आंदोलन भारत में एक तरह के पृथक्तावाद को जन्म देने जा रहा है।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी और बीसवीं सदी की शुरुआत में कुछ बौद्धिक और सांस्कृतिक धाराओं ने शुरुआती द्रविड़-विचारधारा पर असर डाला। कुछ युरोपीय प्राच्यवादी बुद्धिजीवियों ने, जो औपनिवेशिक नौकरशाही और मिशनरियों से जुड़े हुए थे, दक्षिण भारतीय भाषाओं को एक द्रविड़-परिवार के रूप में समूहबद्ध किया। इन लोगों ने दावा किया कि ब्राह्मणों के अलावा सभी दक्षिण भारतीय एक अलग द्रविड़ नस्ल के वंशज हैं। इसी के साथ तमिल पुनरुत्थानवादियों द्वारा तमिल भाषा के दो हजार साल पुराने इतिहास का दावा किया गया। इन लोगों ने तमिल की पुरानी साहित्यिक कृतियों को सामने लाने की मुहिम चलायी। द्रविड़ आंदोलन के बीसवीं सदी के शुरुआती चिंतकों ने इन प्राच्यवादी बुद्धिजीवियों और तमिल पुनरुत्थानवादियों के विचारों से प्रेरणा हासिल की।

इन प्रेरणाओं के आधार पर इन चिंतकों ने एक द्रविड़ समुदाय का विचार पेश किया जिसमें संस्कृत-रहित तमिल भाषा बोलने वाले दक्षिण भारतीयों को शामिल किया गया। इस बात पर भी जोर दिया गया कि पहली सहस्राब्दी में ब्राह्मणों और हिंदू धर्म के आगमन से पहले इस समुदाय में किसी तरह का जातिगत विभेद मौजूद नहीं था। उन्होंने

ब्राह्मणों, उत्तर भारतीयों और उनके ब्राह्मण-राष्ट्रवाद के खिलाफ एक समुदाय गठित करने की प्रक्रिया का सूत्रपात किया। पहले द्रविड़ संगठन द्रविड़ियन एसोसियेशन ऐंड साउथ एशियन लिबरल फ़ेडरेशन (यह संगठन जस्टिस पार्टी के नाम से प्रसिद्ध हुआ) का गठन 1917 में हुआ था। इसका मुख्य मकसद पश्चिमी शिक्षा और नौकरियों में गैर-ब्राह्मणों की हिस्सेदारी बढ़ाना था। इसके अलावा, इसने सीमित मताधिकार पर आधारित प्रांतीय चुनावों में भागीदारी भी की। इस पार्टी को उच्च गैर-ब्राह्मण रजवाड़ों, ज़मींदारों और व्यापारियों ने अपना समर्थन प्रदान किया। 1920 के दशक के कुछ वर्षों में प्रांतीय विधायिका में इस पार्टी का वर्चस्व रहा। उस समय इसने जाति आधारित वरीयता-नीतियों को अपना समर्थन दिया।

1925 में कांग्रेस से अलग होकर सेल्फ़ रिस्पेक्ट एसोसिएशन (या आत्म-सम्मान संगठन) का उदय हुआ। यह ऐसा पहला द्रविड़ संगठन था जिसकी जनता में पैठ थी। इसकी स्थापना ई.वी. रामास्वामी नायकर पेरियार (1880-1974) ने की। पेरियार ने ब्राह्मणों और उत्तर भारतीयों के वर्चस्व की तीखी आलोचना की। उन्हें मध्यम और निम्न जातियों से समर्थन मिला। बहरहाल, धार्मिक आस्थाओं और व्यवहारों की निंदा पर अड़े रहने और राष्ट्रीय आंदोलन की लोकप्रियता के कारण आत्म-सम्मान आंदोलन का विस्तार तुलनात्मक रूप से सीमित ही रहा। जातिगत भेदभाव से रहित समाज बनाने का लक्ष्य पेश करने और वर्ग-जेंडर-आधारित भेदभाव-दूर करने पर भी जोर देने के बावजूद पेरियार के आंदोलन से मुख्य रूप से मध्यम जातियों के लोग ही जुड़े। इस शुरुआती सीमित सफलता के बावजूद आगे चल कर उभरे निम्न जातियों के बहुत से संगठनों ने पेरियार को अपनी प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया है।

1930 और 1940 के दशक में आत्म-सम्मान आंदोलन के बहुत से युवा कार्यकर्ताओं ने पेरियार के विचारों और रणनीति से अलग हटते हुए एक नये तरीके से आंदोलन के गठन का प्रस्ताव किया। इनमें पेरियार की छत्रछाया में ही पनपे अन्ना दुरै और करुणानिधि जैसे नेता शामिल थे। इन लोगों ने तमिल भाषा को ज्यादा महत्व दिया, पॉपुलर कल्चर (जिसमें धर्म भी शामिल था) को स्वीकार किया और अपने राजनीतिक विचारों को लोगों तक पहुँचाने के लिए फ़िल्म और नाटक जैसे सांस्कृतिक माध्यमों का उपयोग किया। 1938 में कांग्रेस की प्रांतीय सरकार ने स्कूलों में हिंदी की पढ़ाई को अनिवार्य बनाने के कोशिश की तो इसके खिलाफ़ ज़बरदस्त आंदोलन छेड़ दिया गया। इस आंदोलन के दौरान पहली बार एक अलग द्रविड़नाडु या द्रविड़ राज्य की माँग सामने आयी। सी.एन. अन्नादुरै के नेतृत्व में एक गुट ने संगठन का नाम बदलकर द्रविड़ेर कजगम कर दिया। पेरियार





कांजीवरम नटराजन अन्नादुरै (1909-1969)

के विपरीत इस दल ने भारत की स्वतंत्रता का स्वागत किया। इस दल का मानना था कि भारत की आजादी के बाद स्थापित हुए संघीय लोकतंत्र ने उनके लिए नये अवसर पैदा किये हैं। ये लोग इस अवसर का फ़ायदा उठाना चाहते थे। इन लोगों ने 1949 में एक अलग पार्टी द्रविड़ मुनेत्र कषगम (द्रमुक) का गठन किया। 1950 और 1960 के दशक में द्रमुक का तेज़ी से विस्तार हुआ। 1967 के चुनावों के बाद राज्य में इसकी सरकार बनी। इसे मुख्य रूप से मध्यवर्ती और निम्न तमिल जातियों और वर्गों का समर्थन मिला।

द्रमुक ने अपने विस्तार के साथ कांग्रेस पार्टी से जुड़े अभिजनों की तीखी आलोचना की। कई मौकों पर इसने ब्राह्मणों और ग़ैर-तमिल भाषियों का भी विरोध किया। पचास के दशक में यह संगठन कई वर्षों तक पृथक्तावादी रवैया अपनाये रहा। लेकिन जब इसके नेताओं को महसूस हुआ कि यह रवैया उनके जन-समर्थन बढ़ने की राह में एक बड़ी बाधा है, तो उन्होंने 1959 में यह माँग छोड़ दी। 1963 में उन्होंने अपने इस फैसले को सार्वजनिक किया। 1960 के दशक में हुए भाषाई आंदोलन से भी इसका ज़बरदस्त जुड़ाव रहा। इसके अलावा इसने तमिल और मध्य जातियों की सांस्कृतिक पहचान को जम कर भुनाया जिससे इसकी राजनीतिक पकड़ बहुत मज़बूत हुई। फिल्म स्टार एम.जी. रामचंद्रन के साथ

इस पार्टी के जुड़ाव ने भी बहुत से ऐसे लोगों को पार्टी की ओर खींचा जो आमतौर पर इसके सिद्धांतों का समर्थन नहीं करते थे।

द्रमुक की सरकार ने राज्य में आरक्षण का कोटा बढ़ा कर 41 प्रतिशत से 49 प्रतिशत कर दिया। इससे पिछड़ी जातियों में तुलनात्मक रूप से अच्छी स्थिति वाले लोगों को फ़ायदा हुआ। उल्लेखनीय है कि 1970 के दशक के शुरुआती वर्षों में द्रमुक सरकार ने बहुत सी ऐसी नीतियों को छोड़ दिया या उनमें कटौती की, जो ग़रीबों के लिए फ़ायदेमंद थीं। इसके अलावा बहुत से द्रमुक नेताओं के भ्रष्टाचार के मामले भी सामने आये। इस कारण एम.जी. रामचंद्रन ने द्रमुक नेतृत्व की आलोचना करनी शुरू कर दी। वे पार्टी में अपनी कमतर स्थिति को लेकर भी नाराज़ थे। 1972 में उन्होंने पार्टी में विभाजन करके अन्नाद्रमुक का गठन किया। इसमें 'अन्ना' शब्द उन्होंने द्रमुक के संस्थापक अन्ना दुरै के नाम से लिया। तमिलों के बीच रामचंद्रन बहुत लोकप्रिय थे। अपने गठन के तुरंत बाद यह पार्टी पूरे तमिलनाडु में फैल गयी। अन्नाद्रमुक ने मुख्यतः ग़रीबों और सबसे निचली जातियों से खुद को जोड़ा। दूसरी ओर द्रमुक ने मध्यवर्ती जातियों में अपने पुराने आधार को क़ायम रखने की कोशिश की। अन्नाद्रमुक के उभार का ख़ामियाजा कांग्रेस को भुगतना पड़ा। वह राज्य की राजनीति में हाशिये पर चली गयी। 1976 में अन्नाद्रमुक ने अपने नाम के साथ 'अखिल भारतीय' शब्द भी जोड़ा। 1977 में तमिलनाडु में इस पार्टी की सरकार बनी। 1987 में रामचंद्रन का देहांत होने तक यह पार्टी सत्ता में बनी रही। इसने आरक्षण को 49 प्रतिशत से भी आगे बढ़ा कर 69 प्रतिशत कर दिया और ग़रीबों को फ़ायदा पहुँचाने वाले कई कार्यक्रम चलाये। स्कूलों में मुफ्त भोजन देने का कार्यक्रम बेहद लोकप्रिय हुआ। रामचंद्रन के बाद उनके साथ फ़िल्मों में नायिका की भूमिका निभाने वाली जयललिता ने अन्नाद्रमुक पार्टी की कमान सँभाली।

1990 के बाद के दौर में भी तमिलनाडु की राजनीति मुख्यतः द्रमुक और अन्नाद्रमुक के आस-पास ही केंद्रित रही। राज्य स्तर पर कांग्रेस एक छोटी पार्टी के रूप में सिमट गयी। 1994 में द्रमुक के कुछ नेताओं ने अलग होकर मालुमराच्ची द्रविड़ मुनेत्र कषगम (एमडीएमके) का गठन किया। इसके पीछे तमिल जातीयता की भावना प्रमुख थी। श्रीलंका में तमिलों के साथ हो रहा बरताव इस पार्टी का मुख्य मुद्दा रहा है, लेकिन इसे सीमित सफलता ही मिली है। अभी राज्य की राजनीति में द्रविड़ आंदोलन से निकले दलों के बीच ही रस्साकशी चल रही है।

मौजूदा हालात में द्रविड़ पार्टियाँ अतीत के आंदोलन और मुद्दों से कट चुकी हैं। दोनों मुख्य दल द्रमुक और अन्नाद्रमुक भ्रष्टाचार और वंशवाद से ग्रस्त हैं। राष्ट्रीय स्तर

की राजनीति में ये दल मुद्दों या विचारधारा के बजाय व्यक्तिगत फ़ायदे के आधार पर किसी सरकार को समर्थन देते रहे हैं। इसके बावजूद हर एक या दो चुनावों के बाद इन्हीं के बीच सत्ता बदलती रहती है। यह दिखाता है कि तमिलनाडु की राजनीति में द्रविड़ राजनीति की प्रासंगिकता अभी तक किसी न किसी रूप में मौजूद है, हालाँकि समाज के पिछड़े तबकों में जागरूकता लाने और गरीबों की भलाई जैसे मुद्दे बहुत पीछे छूट चुके हैं। दूसरे शब्दों में, अपने शुरुआती दौर में जो द्रविड़ आंदोलन रैडिकल बदलाव की राजनीति का प्रतिनिधित्व करता था, वह अब जड़ता, भ्रष्टाचार, परिवारवाद और जातिवाद की राजनीति तक सिमट कर रह गया है।

देखें : आत्म-सम्मान आंदोलन, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल प्रयोग-1 और 2, तमिलनाडु, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन, हिंदी विरोधी आंदोलन।

## संदर्भ

1. के. नंबीअरुरन (1992), *तमिल रेनेसाँ एंड द्रविड़ियन नैशनलिज्म, 1905-1944*, सेज, नयी दिल्ली.
2. नरेंद्र सुब्रह्मण्यम (1999), *एथिसिटी एंड पॉपुलिस्ट मोबिलाइजेशन : पॉलिटिकल पार्टीज़, सिटिजंस एंड डेमोक्रेसी इन साउथ एशिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. डेविड एल. वॉशरबुक, 'कास्ट, क्लास एंड डॉमिनेंस इन मॉडर्न तमिलनाडु : नॉन ब्राह्मनिज्म, द्रविड़ियनिज्म एंड तमिल नैशनलिज्म', संकलित, फ्रैंसिस फ्रैंकेल और एम.एस.ए. राव (सम्पा.), *डॉमिनेंस एंड स्टेट पावर इन मॉडर्न इण्डिया*, खण्ड 2, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली और न्यूयॉर्क.

— कमल नयन चौबे

## दया कृष्ण

(Daya Krishna)

समकालीन भारतीय दर्शन के क्षेत्र में दया कृष्ण (1924-2007) की गणना प्रथम कोटि के थोड़े से विचारकों में की जाती है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा से अपने समय के दार्शनिक वातावरण को सर्वाधिक प्रभावित किया। दया कृष्ण ने सम्प्रदाय केंद्रित भारतीय दर्शनों की उपस्थापनाओं का खण्डन-मण्डन करने के बजाय भारतीय दर्शन के इतिहास की

विचार-केंद्रित और विचारक-केंद्रित पुनर्रचना की। इससे ओरिएंटलिस्ट विद्वानों द्वारा भारतीय दर्शन की अन्यायपूर्ण छवि का पुरजोर प्रतिकार हुआ। साथ ही भारतीय दर्शन की ऐसी तस्वीर बनी जो स्थावर होने के बजाय उत्तरोत्तर विकासमान दिखाई देती है। दया कृष्ण का अध्यवसाय साजिश भरे ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक पूर्व-पक्ष और उसके प्रति हमारे स्मृति-भ्रंश के प्रत्युत्तर में एक बड़ी शुरुआत है। वे भारतीय दार्शनिक परम्परा को पुनर्गठित करने हेतु एक भाष्यधर्मी अभियान का आह्वान भी करते हैं। दया कृष्ण के दार्शनिक उद्यम ने इस भाष्यधर्मी अभियान की यथासम्भव रूपरेखा भी प्रस्तुत की है ताकि भारतीय बौद्धिक परम्पराओं के बहुलवादी स्वरूप को उसकी समग्रता में न केवल उद्घाटित किया जा सके बल्कि वर्तमान के आलोक में उसका वैश्विक औचित्य प्रमाणित भी हो सके। उनके इस दार्शनिक अभियान को यदि कोई नाम देना आवश्यक हो तो उसे वैकल्पिकता के तर्कशास्त्र पर आधारित 'बहुलवादी समग्रता का दर्शन' कहा जाना उचित होगा।

दया कृष्ण ने यह भी रेखांकित करने का प्रयास किया है कि हम अपनी दार्शनिक थाती को पूरे तौर से देख पाने और उसका समुचित रूप से आकलन कर पाने में असमर्थ क्यों हुए। उनके अनुसार पिछले डेढ़ सौ वर्षों में कुछ ऐसा घटित हुआ है कि हम इस भारतीय सभ्यता के ज्ञानात्मक अतीत की जातीय स्मृति से कट गये हैं। उस स्मृति से, जो आत्मचेतना के स्तर पर इस सभ्यता के होने की और उसके अस्तित्व की बुनियादी शर्त रही है। उपनिवेशवाद की योजना के अनुसार हिंदुस्तानियों के भीतर एक नया वर्ग पनपाया गया जो अपने मुल्लक और अपने लम्बे अतीत से कहीं ज़्यादा पश्चिम के बारे में जानने में रुचि रखता है। ज्ञान के हर क्षेत्र में केवल वही जानने योग्य समझा जाता है जो पश्चिम ने उपजाया है— यूनानियों के वक्रत से आज तक। स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में भी हमारे दिमाग की की दलाई इसी प्रकार होती है।

दया कृष्ण कहते हैं कि इस प्रकार एक ऐसी मानसिकता का निर्माण हुआ जो सारे ज्ञान की जड़ें पश्चिम में मानती है। उसके लिए भारतीय सभ्यता अथवा किसी भी अन्य पश्चिमेतर सभ्यता का अतीत विश्व-सभ्यता में योगदान की दृष्टि से शून्य है। समझा यह जाता है कि हमारे यहाँ उम्मीद के क्राबिल केवल अध्यात्म या धर्म ही रह गया है। दया कृष्ण के अनुसार हमारी सभ्यता का यह सर्वग्रासी स्मृति-भ्रंश इतना गहरे जड़ पकड़ चुका है कि हम उन ज्ञानात्मक अभियानों से पूरी तरह अपरिचित हैं जिनसे गुज़र कर ही हम यहाँ पहुँच सके हैं। दया कृष्ण इस स्मृति-भ्रष्ट बदहाली को उस शिक्षा पद्धति की देन मानते हैं जो अंग्रेजों ने इस देश में रोपी और जिसकी परिणति एक तरह के रंगभेद



दया कृष्ण (1924-2007)

में हुई है। इसके तहत एक तरफ़ वे लोग हैं जो अब भी ज्ञान की परम्परागत पद्धतियों से चिपके हुए हैं, और दूसरी तरफ़ वे हैं जो उन विषयों का उस पद्धति से अध्ययन करते हैं जिसे 'आधुनिक' कहा जाता है। इन दो वर्गों के बीच किसी तरह के संवाद की गुंजाइश नहीं है। देश के सत्ताधारी 'अभिजन' के रूप में प्रतिष्ठित ये 'आधुनिक' अपने को इस सभ्यता का एकमात्र प्रतिनिधि समझते हैं। इससे सम्पूर्ण आत्म-विस्मृति और पूरी तरह से उजड़ जाने का खतरा पैदा हो गया है।

दया कृष्ण की प्रारम्भिक शिक्षा दिल्ली के एक सनातन धर्म स्कूल से शुरू हुई। उन्होंने हिंदू कॉलेज और दिल्ली विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में उच्च-अध्ययन किया। 1966 से 1984 तक राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से सम्बद्ध होकर उन्होंने न केवल अपनी प्रतिभा को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विख्यात किया बल्कि उस विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग को एक महत्त्वपूर्ण केंद्र के रूप में स्थापित भी किया। जयपुर में रहते हुए उन्होंने देश भर के सम्भावनावान आधुनिक एवं परम्परागत मनोवृत्ति के अध्येताओं को साथ लेकर भारतीय दर्शन की उन्नति का जो उपक्रम संचालित किया है उसे 'जयपुर प्रयोग' की संज्ञा भी दी जा सकती है। देशी-विदेशी विश्वविद्यालयों में अध्यापन-शोध करने वाले दया कृष्ण के चिंतन एवं विचार इतने बहुआयामी रहे हैं कि उन्हें किसी वाद या विशेष विचार-परम्परा की सीमा में बाँध कर नहीं देखा जा सकता। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के साथ-साथ समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं

भारत-विद्या पर भी बहुत कुछ लिखा है।

अपने दार्शनिक अध्यवसाय के प्रारम्भिक चरण में दया कृष्ण पाश्चात्य दर्शन के बड़े हिमायती थे। बाद में उनकी रुचि भारतीय दर्शन की ओर हुई। भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को उनमें निहित तर्कणा की सरणियों की दृष्टि से समझने के प्रयास में उन्होंने भारतीय दर्शन की स्थापित मान्यताओं के संदर्भ में आधारभूत प्रश्न उठाये जिनसे उन पर नये ढंग से विचार करने की एक नयी दृष्टि प्राप्त हुई। *द नेचर ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी* (1956) और *द आर्ट ऑफ़ कांसेप्चुअल* (1989) नामक दो कृतियों से पता चलता कि दर्शन उनके लिए विमर्शात्मक चेतना के धरातल पर जीवन और जगत् की सम्प्रत्ययात्मक समझ के लिए बुद्धि द्वारा स्वयं से किया गया संघर्ष है। उनकी निगाह में एक दार्शनिक का कर्म प्रकृति-वैज्ञानिक, गणितज्ञ एवं तर्कशास्त्री से भिन्न होता है। *सोशल फ़िलॉसफ़ी : पास्ट एंड फ़्यूचर* (1969), *कंसीडरेशंस टुवर्ड्स ए थियरी ऑफ़ सोशल चेंज* (1965) और *पॉलिटिकल डिवेलपमेंट : ए क्रिटिकल पर्सपेक्टिव* (1979) नामक कृतियाँ उनके सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दर्शन से संबंधित हैं। *प्रोलोगोमेना टू ऐनी फ़्यूचर हिस्टोरियोग्राफ़ी ऑफ़ कल्चर एंड सिविलाइज़ेशन* (1997) में दया कृष्ण एक सभ्यता-विज्ञानी के रूप में सामने आते हैं।

दया कृष्ण की कई कृतियों में भारतीय दर्शन को पुनःसंगठित और पुनर्रचित करने की कामना दिखाई पड़ती है। ऐसी कृतियाँ हैं *इण्डियाज़ इंटेलेक्चुअल ट्रेडिशन* (सम्पा. 1987), *संवाद : ए डायलॉग बिटवीन टु फ़िलॉसॉफ़िकल ट्रेडीशंस* (सम्पा. 1991), *इण्डियन फ़िलॉसफ़ी : अ काउंटर पर्सपेक्टिव* (1991), *न्यू पर्सपेक्टिव इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी* (2001), *भारतीय दर्शन : एक नवीन दृष्टि* (2000) तथा *डिस्कशन एंड डिबेट इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी* (2005)।

दया कृष्ण की भूमिका का समारम्भ उपनिवेशोत्तर भारत के ऐसे वातावरण में हुआ जब भारतीय विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य दर्शन का प्रभुत्व था और भारतीय दर्शन परम्परा को 'दर्शन' पद से अभिहित होने योग्य ही नहीं माना जाता था। हीगेल से लेकर हसर तक यही प्रचारित किया जाता था कि भारतीय दर्शन में 'दर्शन' जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। अधिक से अधिक इसे 'थियोलॉजी' के अंतर्गत रखा जा सकता है। दया कृष्ण ने भी अपने आरम्भिक दिनों में पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में ही हस्तक्षेप दर्ज किये। उन्होंने अध्यास एवं सत् की समस्या पर, विरोध के नियम पर, संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक ज्ञान की समस्या पर, भाषायी विश्लेषण, धार्मिक अनुभव एवं रहस्यवाद जैसे विषयों पर महत्त्वपूर्ण लेखन किया।

द्रष्टव्य है कि भारत के अध्येताओं ने पाश्चात्य दर्शन की चाहे जितनी सेवा की हो, और पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव



में वे भारतीय दर्शन की आधुनिक व्याख्या करने का चाहे जितना भी दावा करें, उनके इस कृत्य को न तो पश्चिम में मान्यता मिली और न ही उन्हें भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठापक आचार्य का स्वीकरण प्राप्त हुआ। अपवाद के तौर पर भारत के जिन कुछ एक अध्येताओं को यूरोप में मान्यता मिल सकी उनमें से जड़ावलाल मेहता, जितेंद्र नाथ मोहंती, बिमल कृष्ण मतिलाल, रिचर्ड सोराबजी, अकील बिलग्रामी और दया कृष्ण का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इनमें दया कृष्ण ने किसी दर्शन या दार्शनिक प्रवृत्ति-विशेष के व्याख्याकार के रूप में अपनी पहचान अर्जित नहीं की, बल्कि उन्हें अपनी स्वतंत्र दार्शनिक सृजनशीलता के कारण पहचान मिली। उनके लेखन को उस समय के स्थापित दार्शनिकों ने गम्भीरता से लिया और आलोचना-प्रत्यालोचना का दौर सा शुरू हो गया। डेले रीप ने अपनी पुस्तक *इण्डियन फिलॉसफी सिंस इंडिपेंडेंस* (1978) में, तथा फ्रेड डलमायर ने अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तकों *बियांड ओरिएंटलिज्म* (1994) तथा *इंटीग्रल प्लूरलिज्म : बियांड क्लचर वार* (2010) में दया कृष्ण के दर्शन और दार्शनिक हस्तक्षेप को संदर्भित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। डलमायर द्वारा दया कृष्ण को 'इंडियन ऑफ़ इंटीग्रल प्लूरलिज्म' की कोटि में संदर्भित करना उनके सम्पूर्ण दार्शनिक अध्यवसाय को समवेत रूप से एक शीर्षक के अंतर्गत समेट लेता है। विचारों की विविधता और दृष्टिकोणों की वैकल्पिकता दया कृष्ण के लिए मानो सौंदर्यबोध जैसी वस्तु थी।

पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में गहरी पैठ रखने वाले दया कृष्ण का भारतीय दर्शन की ओर मुड़ना किसी रागात्मक वृत्ति अथवा सांस्कृतिक निष्ठा के कारण नहीं बल्कि भारतीय दर्शन के उस स्वरूप के प्रति व्याख्यात्मक असंतोष के कारण हुआ जो अंग्रेजी माध्यम के द्वैतीयक लेखन द्वारा सामने आया था। इस असंतोष को उग्रता प्रदान करने का एक और हेतु बना भारतीय दर्शन के स्वरूप को मध्य युगीन पाश्चात्य दर्शन की तरह एक रेखीय प्रारूप में प्रस्तुत किया जाना। दया कृष्ण अपनी भारतीय दर्शन को बहुरेखीय कार्य-योजना के रूप में देखना चाहते थे। भारतीय दर्शन के प्रति निस्संदेह यह एक भिन्न नज़रिया था जिसके लिए भारतीय दर्शन परम्परा में पर्याप्त अवकाश भी है। इसीलिए भारतीय दर्शन पर उनका प्रारम्भिक लेखन उन सभी अवधारणाओं को विखण्डित करता है जो भारतीय दर्शन को एकरेखीय स्वरूप प्रदान करने में सहायक होते हैं। *इण्डियन फिलॉसफी : ए काउंटर पर्सपेक्टिव* (1991) के सभी आलेख दया कृष्ण की इस दृष्टि के ही प्रस्तावक हैं।

अपने एक प्रसिद्ध आलेख 'श्री कंसेप्शंस ऑफ़ इण्डियन फिलॉसफी' के उपसंहारात्मक कथन में भारतीय दर्शन को केवल और केवल मोक्षशास्त्र मानने के रवैये को विरोध करते हुए दया कृष्ण कहते हैं कि भारतीय दर्शन की

एकमात्र मोक्ष में ही रुचि नहीं है, और न यह उसका प्रमुखतम प्रश्न ही है। अनेक दार्शनिकों और सम्प्रदायों का इससे दूर का भी संबंध नहीं है। अनेक इससे केवल बाहरी वृत्त पर ही संबंधित हैं। बहुत कम दार्शनिकों के लिए यह एक प्रमुख प्रश्न है और यदि है भी तो उनकी रुचि इसमें विशुद्धतः दार्शनिक प्रकार की है। प्राचीन दार्शनिकों की केवल प्रचारात्मक अभ्युक्तियों ने, और यह देख पाने की असमर्थता ने कि मोक्ष का प्रश्न भी दार्शनिक समस्याओं को जन्म दे सकता है, इस भ्रांत धारणा को जन्म दिया कि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक मुक्ति से आंतरिक और अभिन्न रूप से सम्बद्ध है और 'दार्शनिक' कही जाने वाली समस्याओं से नहीं। अब समय आ गया है कि हम इस सम्मोहन को त्याग दें और भारतीय दर्शन को मूलतः 'दर्शन' के रूप में देखें।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, राम अवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

### संदर्भ

1. दया कृष्ण (2000), *भारतीय दर्शन : एक नयी दृष्टि*, रावत पब्लिकेशन, जयपुर.
2. भुवन चंदेल एवं के.एल. शर्मा (सम्पा.) (1996), *द फिलॉसफी ऑफ़ दया कृष्ण*, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली.
3. फ्रीड डलमायर (1994), *बियांड ओरिएंटलिज्म*, स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्यूयार्क प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. योगेश गुप्त (सम्पा.) (2006), *भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराएँ*, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर.

— अम्बिकादत्त शर्मा



## दायित्व

(Obligation)

अगर किसी के पास कोई अधिकार है, तो वह तब तक उसका उपभोग नहीं कर सकता जब तक दूसरा एक दायित्व के रूप में उस अधिकार का आदर न करे। इस लिहाज से अधिकार और दायित्व एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। व्यक्तिगत अधिकारों को तभी तक जारी रखा जा सकता है जब तक राज्य की संस्था उनकी सुरक्षा करने के गुरुतर दायित्व का पालन करने के लिए तैयार न हो। लेकिन अगर यह मान लिया जाए कि नागरिकों के हिस्से में केवल अधिकार आयेंगे और राज्य के हिस्से में केवल दायित्व, तो व्यवस्थित और शिष्ट नागरिक जीवन असम्भव हो जाएगा। इसीलिए नागरिकता की अवधारणा में दायित्वों और अधिकारों के मिश्रण की तजवीज की गयी है। इनमें सबसे ज्यादा बुनियादी अवधारणा 'राजनीतिक दायित्व' की है जिसका संबंध नागरिक द्वारा राज्य के प्राधिकार को मानना और उसके कानूनों का पालन करने से है। अराजकतावादी चिंतक व्यक्ति की स्वायत्तता को किसी भी तरह के दायित्व के बंधन में नहीं बाँधना चाहते, पर उन्हें छोड़ कर बाकी सभी तरह के चिंतकों ने यह समझने में काफी दिमाग खपाया है कि क्या व्यक्ति के राजनीतिक दायित्व होते हैं और अगर होते हैं तो उनका समुचित आधार क्या है। कुछ विद्वानों के मुताबिक 'सामाजिक समझौते' के तहत व्यक्ति को बुद्धिसंगत और नैतिक आधार पर राज्य के प्राधिकार का आदर करना चाहिए। कुछ अन्य विद्वान इससे भी आगे जा कर कहते हैं कि दायित्व, जिम्मेदारियाँ और कर्तव्य केवल किसी अनुबंध की देन न हो कर किसी भी स्थिर समाज के आत्यंतिक लक्षण होते हैं। विद्वानों में इस बात पर खासा मतभेद है कि राजनीतिक दायित्वों की हद क्या होनी चाहिए। आखिर किस बिंदु पर एक कर्तव्यनिष्ठ नागरिक राज्य के प्राधिकार का आदर करने के दायित्व से मुक्त महसूस कर सकता है? क्या ऐसा भी कोई बिंदु है जब वह सभी तरह के राजनीतिक दायित्वों को नज़रअंदाज़ करके विद्रोह करने के अधिकार का दावा कर सके?

राजनीतिक सिद्धांत के इतिहास में झाँकने पर प्लेटो की क्लम से उनके शिक्षक और मित्र सुकरात का प्रकरण सामने आता है। एथेंस के युवकों को भ्रष्ट करने का मुकदमा चलने के बाद लगभग निश्चित मृत्यु-दण्ड की प्रतीक्षा कर रहे सुकरात अपने पुराने दोस्त क्रिटो को बताते हैं कि वे कारागार से भागने के लिए तैयार क्यों नहीं हैं। सुकरात की दलील है कि उन्होंने एथेंस में रहने का चुनाव किया और उसके नागरिक होने के नाते उपलब्ध विशेष सुविधाएँ भोगीं। इसी

लिहाज से वे एथेंस के कानून के प्रति निष्ठावान होने से भी बँधे हुए हैं, और अपने इस आश्वासन को वे अपने प्राणों की क्रीमत पर भी पूरा करना चाहते हैं। सुकरात का प्रकरण बताता है कि किसी संगठित समुदाय में रहने के लाभों को भोगने के बदले राजनीतिक दायित्वों को निभाना पड़ता है। यहाँ सुकरात की राजनीतिक दायित्व संबंधी समझ उसके बिना शर्त पालन की है। यानी सुकरात संबंधित राज्य के चरित्र या उसकी प्रकृति की कोई जाँच नहीं करते। वे यह भी मान कर चलते हैं कि अगर कोई निवासी राज्य से असंतुष्ट है तो वह अपनी मर्जी के मुताबिक किसी दूसरे राज्य में रहने के लिए जा सकता है। सुकरात का यह दृष्टिकोण कई तरह से समस्याग्रस्त है। मसलन, व्यावहारिक रूप से यह नागरिकों की इच्छा पर निर्भर नहीं होता कि वे किस राज्य में रहना पसंद करते हैं। पहली बात तो यह कि आर्थिक फँसाव उन्हें अपने राज्य को छोड़ने से रोकता है, दूसरे अगर राज्य न चाहे तो भी वे उसकी सीमा छोड़ कर नहीं जा सकते। दूसरे, जन्मना नागरिक राज्य से ऐसा कोई वायदा नहीं करता कि वह अमुक दायित्वों का पालन करेगा। हाँ, इस तरह का लिखित आश्वासन नागरिकता प्राप्त करने वाले को ज़रूर देना पड़ता है।

हॉब्स और लॉक जैसे चिंतकों ने अपने-अपने तरीके से राज्य द्वारा शासन करने के अधिकार को शासितों की सहमति पर आधारित बताया है। चूँकि बुद्धिसंगत व्यक्ति 'प्रकृत अवस्था' की बर्बर स्थिति में नहीं रहना चाहेगा, इसलिए वह स्वेच्छा से सामाजिक समझौते जैसे अनुबंध में उतरता है और शांति-व्यवस्था के तहत जीने के लिए राज्य के प्राधिकार का अनुपालन करने के लिए तैयार होता है। इन दोनों विद्वानों में हॉब्स के मुकाबले लॉक का विचार अधिक संतुलित प्रतीत होता है। हॉब्स के मुताबिक व्यक्ति के सामने कोई चारा ही नहीं है : उसे या तो राज्य के सर्वसत्तावादी प्राधिकार की मातहत स्वीकार करनी होगी, या फिर व्यक्तिगत हितों की निरंतर चलने वाली गलाकाटू होड़ में फँस कर नष्ट हो जाना होगा। लॉक राजनीतिक दायित्व की अवधारणा को एक नहीं, बल्कि दो समझौतों के साथ जोड़ते हैं। पहला अनुबंध सामाजिक समझौता है जिसके तहत समाज की रचना करने का परस्पर समझौता करना अनिवार्य है। इसके लिए वे अपनी-अपनी स्वतंत्रता का एक-एक हिस्सा तक कुर्बान करने के लिए तैयार रहेंगे ताकि एक राजनीतिक समुदाय की अधीनता में मिल सकने वाली स्थिरता और सुरक्षा प्राप्त कर सकें। दूसरा अनुबंध समाज और सरकार के बीच एक 'भरोसे' के रूप में होगा जिसके तहत सरकार नागरिकों को उनके प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा का भरोसा थमायेगी। लॉक कहते हैं कि अगर राज्य निरंकुश या सर्वसत्तावादी हो जाता है तो व्यक्ति को उसके कानूनों के पालन के दायित्व को नज़रअंदाज़ करके उसके खिलाफ़ बगावत करने का अधिकार है। यहाँ लॉक स्पष्ट करते हैं कि

विद्रोह का मतलब सरकार को खत्म करके 'प्रकृत अवस्था' की तरफ लौटना नहीं हो सकता, बल्कि बेहतर सरकार की स्थापना ही हो सकता है।

सामाजिक समझौते के सिद्धांत की भिन्न व्याख्या करते हुए रूसो उसे अपने विख्यात सूत्रीकरण 'जन-इच्छा' के आईने में दिखाते हैं। अगर कोई नागरिक स्वेच्छा से किसी समाज का सदस्य है और वह उस समाज द्वारा प्रतिपादित जन-इच्छा का भी हिस्सा है तो उसके आधार पर उसे राजनीतिक दायित्व का पालन करना होगा। यहाँ जन-इच्छा का तात्पर्य है समाज के प्रत्येक सदस्य के वास्तविक हित का प्रतिनिधित्व। ज़ाहिर है कि रूसो की स्थापना दायित्व के सिद्धांत को सहमति आधारित शासन के आग्रह से दूर ले जाती है।

राजनीतिक दायित्व के सामाजिक समझौते संबंधी सिद्धांत के दो विकल्प भी सुझाये गये हैं। पहला विकल्प राजनीतिक दायित्व की प्रयोजनमूलक समझ पर टिका हुआ है। इसके मुताबिक नागरिक द्वारा राज्य के आदेशों का अनुपालन केवल उसी अनुपात में किया जा सकता है जिस अनुपात में राज्य उसे लाभ पहुँचा सकता हो या उसके प्रयोजन पूरे कर सकता हो। उपयोगितावाद एक ऐसी ही प्रयोजनमूलक थियरी है जिसके अनुसार नागरिकों को सरकार का आज्ञापालन इसलिए करना चाहिए कि वह लोगों की 'सर्वाधिक संख्या' को 'सर्वाधिक सुख' प्रदान करने का प्रयास करती है। दूसरा विकल्प यह मान कर चलता है कि व्यक्ति किसी समाज का 'स्वाभाविक' सदस्य होता है, इसलिए उसके राजनीतिक दायित्वों को भी 'स्वाभाविक' समझा जाना चाहिए। यह विचार कुछ-कुछ सुकरात की समझ से मिलता-जुलता है। अनुदारवादी चिंतकों ने इस विकल्प को ख़ास तौर पर पसंद किया है। अनुदारवादियों के अनुसार परिवार, चर्च और सरकार जैसी संस्थाएँ किसी व्यक्ति की इच्छा के आधार पर नहीं बल्कि समाज को नैरंतर्य देने की आवश्यकता के तहत रची गयी हैं। ये संस्थाएँ व्यक्ति को पालती-पोसती, शिक्षित करती और उसकी शिखिसयत का निर्माण करती हैं। इसलिए व्यक्ति को उनके प्रति दायित्व, कर्तव्य और जिम्मेदारियाँ महसूस करनी चाहिए। इसके लिए केवल क़ानून का पालन करना और दूसरों की स्वतंत्रता का आदर करना ही काफ़ी नहीं है, बल्कि व्यक्ति को प्राधिकार का सम्मान करते हुए ज़रूरत के मुताबिक सार्वजनिक पदों का जिम्मा भी उठाना चाहिए। इस तरह अनुदारपंथी चिंतक व्यक्ति के राजनीतिक दायित्वों को माता-पिता के प्रति उनकी संतानों के दायित्व का दर्जा दे देते हैं।

समाजवादियों और सामाजिक-जनवादियों ने दायित्वों के सामाजिक पहलू पर ज़ोर दिया है। इस लिहाज़ से वे उदारतावादियों के मुक़ाबले नागरिक पर गुरुतर दायित्व

डालना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि व्यक्ति समुदाय के लिए तो काम करे ही, उन लोगों के लिए भी काम करे जो खुद किसी वजह से काम नहीं कर सकते। केवल अधिकारसम्पन्न और दायित्वहीन व्यक्तियों के समाज में मत्स्य-न्याय की स्थितियाँ हावी हो जाएँगी। समुदायवादी अराजकतावादी चिंतकों को इस तरह की दलील काफ़ी पसंद है। प्रूथों, बकूनिन और क्रोपाटकिन जैसे क़सालिकल अराजकतावादी राजनीतिक प्राधिकार को तो ख़ारिज करते हैं, पर उम्मीद करते हैं कि एक स्वस्थ समाज में लोग सामाजिकता, परस्पर सहयोग और शिष्ट व्यवहार की ख़ूबियों लैस होंगे।

मार्क्सवादियों ने राजनीतिक दायित्व की अवधारणा को पूरी तरह से टुकरा दिया है, क्योंकि उनकी निगाह में राज्य की व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा में कोई दिलचस्पी नहीं होती। वह तो वर्गीय शासन का औज़ार होता है। मार्क्सवादी सामाजिक समझौते के सिद्धांत को 'विचारधारात्मक' क्रार देते हैं। यानी उनके अनुसार इस सिद्धांत का मक़सद नागरिकों को शासक वर्ग की मातहती में लाना है।

लॉक की स्थापनाओं से स्पष्ट है कि राजनीतिक दायित्व की उनकी समझ से क्रांति का सिद्धांत भी निकलता है। 1776 की अमेरिकी क्रांति के दौरान 13 पूर्व ब्रिटिश उपनिवेशों द्वारा की गयी बगावत में शामिल क्रांतिकारियों ने लॉक की 1690 में प्रकाशित रचना *टू ट्रीटाइज़ ऑन सिविल गवर्नमेंट* में व्यक्त विचारों का काफ़ी इस्तेमाल किया था। इसी आधार पर लॉक ने स्टुअर्ट राजाओं के शासन के खिलाफ़ इंग्लैण्ड की 'ग्लोरियस रिवोल्यूशन' का समर्थन किया जिसके परिणामस्वरूप संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई और संसदीय लोकतंत्र के विकास का रास्ता खुला।

**देखें :** अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफलातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, जोहान गॉटफ्रीड हर्डर, डेविड ह्यूम, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, थॉमस हिल ग्रीन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत।

### संदर्भ

1. ऐंडरू हेवुड, 'राइट्स, ऑब्लीगेशंस ऐंड सिटीज़नशिप', *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 2004, पृष्ठ 184-219
2. जे. होर्टन, *पॉलिटिकल ऑब्लीगेशन*, पालग्रेव मैकमिलन, बेसिंग्टोक, 1986

2. रिचर्ड एशक्रॉफ्ट, रेवोल्यूशनरी पॉलिटिक्स ऐंड लॉक्स टू ट्रीटाइज ऑफ गवर्नमेंट, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, 1986
3. सी. पैटमैन, द प्रॉब्लम ऑफ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन, जॉन विली, न्यूयॉर्क, 1989

— अभय कुमार दुबे

## दास प्रथा

(Slavery)

आज एक संस्था के रूप में दास प्रथा का अंत हो चुका है, पर मनुष्य द्वारा मनुष्य को अपना दास बनाने का इतिहास बहुत पुराना है। दरअसल, दास प्रथा को मानवीय उत्पीड़न का सबसे पुराना रूप माना जा सकता है। भारत समेत तत्कालीन सभी सभ्यताओं के प्राचीन ग्रंथों में दासों, सम्पत्ति की तरह उनके विनिमय और इस प्रथा के विभिन्न रूपों का उल्लेख मिलता है। युद्ध में पराजित हुए समुदायों को दास बना लेना आम बात थी। एक राजा किसी बड़े सम्राट को खिराज देते समय उसमें दास स्त्री-पुरुषों की बड़ी संख्या भी शामिल करता था। दास प्रथा का अर्थ है उत्पादन के अन्य साधनों की भाँति मनुष्य को भी खरीद-फ़रोख़्त के ज़रिये हासिल करना। एक बार दास के रूप में बिक जाने के बाद किसी व्यक्ति की अपनी इच्छा या अनिच्छा का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। उसका जीवन-मरण उसके मालिक के हाथ में चला जाता है। दास प्रथा के अलग-अलग रूपों, जैसे बँधुआ मज़दूरी, भू-दास और गुलाम, से जुड़ी हुई स्वामित्व की संरचनाएँ भी अलग-अलग होती हैं।

आधुनिक युग में दास प्रथा को नागरिक स्वतंत्रता के विलोम के रूप में देखा जाता है, लेकिन इस ऐतिहासिक हकीकत से इनकार नहीं किया जा सकता। प्राचीन युरोपीय दर्शन दास और दास-मालिक के बीच के संबंधों का औचित्य प्रतिपादन करता है। प्लेटो के दर्शन में तीसरा वर्ग उत्पादकों का है जिनके लिए उन्होंने संयम रखते हुए पहले दोनों शासक वर्गों की मर्जी के मुताबिक उत्पादक श्रम करने का उपदेश दिया है। युरोप को आधुनिक बनाने में भी दास प्रथा और गुलामों की तिजारत की उल्लेखनीय भूमिका रही है। अमेरिकी स्थित युरोपीय उपनिवेशों में दासों द्वारा बनाये गये उत्पादों के आधार पर अर्थव्यवस्थाओं का विकास हुआ और मुनाफ़ा कमाया गया। इसी से मिलती-जुलती परिस्थितियाँ एशिया में भी एक हद तक दोहरायी गयीं। दास प्रथा की सबसे ज्यादा मार अफ़्रीका को झेलनी पड़ी। अफ़्रीकी दास सारी दुनिया में ख़रीदे-बेचे गये। मार और मुनाफ़े के लालची

उपनिवेशवादियों ने अफ़्रीकी दास श्रमिकों को चाय, काफी, रबड़ और कपास के बागानों में प्राणांतकश्रम करने को मजबूर किया। सदियों तक गुलामी का जीवन व्यतीत करने की प्रक्रिया में अफ़्रीकियों की अपनी सांस्कृतिक पहचान कहीं गुम हो गयी। इसलिए उन्हें अपनी नयी संस्कृति, नया धर्म और सामुदायिकता की रचना करनी पड़ी। उनकी इन संरचनाओं को लगातार परिवर्तन के दौर से गुज़रना पड़ता था, क्योंकि हर बार गुलामों की नयी खेप नये प्रभाव ले कर आती थी और उनके गोरे मालिकों की संस्कृति भी उन्हें अपने तरीके से गढ़ने की कोशिश करती थी।

यूनानी और रोमन ज़माने में ही दास प्रथा औपनिवेशिक विस्तार का अंग बन चुकी थी। लेकिन, गुलामों का व्यापार अपने चरम पर पंद्रहवीं सदी में पहुँचा। 1492 में क्रिस्टोफ़र कोलम्बस द्वारा नयी दुनिया की खोज करते ही बहुत से युरोपीय दलों (जैसे स्पैनी कॉम्बिस्टाडोर) ने खज़ानों और लूट के लालच में इन इलाकों का रुख किया। जल्दी ही इस क्षेत्र में अंग्रेज़, फ़्रांसीसी, स्पैनी, पुर्तगाली और डच उपनिवेश दिखने लगे। युरोपियनों को लगा कि अमेरिका का महाद्वीप उनके लिए समृद्धि की नयी सम्भावनाओं से भरा हुआ है। उन्होंने स्थानीय अमेरिगिण्डियों को दास बनाने की कोशिश की। कई ने प्रतिरोध किया और पहाड़ों और जंगलों में शरण ली। गुलाम बने बहुत से लोग युरोपीय बीमारियों के शिकार हो कर मारे गये, क्योंकि उनके शरीर में उन बीमारियों की प्रतिरोधक क्षमता नहीं थी। नयी दुनिया की धरती के दोहन के लिए कठोर श्रम की ज़रूरत थी और युरोपियनों की इसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। स्थानीय अमेरिगिण्डियन आबादी महामारियों की वजह से घटती जा रही थी, इसलिए भरपाई के लिए अफ़्रीकी श्रमिकों की ज़रूरत पड़ी। कॉम्बिस्टाडोर अपने साथ अफ़्रीकियों को भी श्रमिक के रूप में ले गये थे। इन काले दासों से उन्होंने चर्च बनवाये, ख़ानों और अंगूर के बागानों में काम लिया और कैरेबियन द्वीपों में खेतिहर श्रम करवाया।

कैरेबियन द्वीपों में डच उपनिवेशवादियों ने गन्ने की खेती शुरू की। इसी के बाद से इस क्षेत्र में अफ़्रीकी गुलामों का माँग बढ़ गयी। तम्बाकू और चावल की खेती ने इसे और बढ़ाया। शुरू में अफ़्रीकी गुलामों की सप्लाई मुख्यतः पुर्तगालियों के हाथों में थी। 1441 में ही पुर्तगाली कैप्टन अनातो गोंज़ाल्विस मॉरितानिया से लाये गये बारह अफ़्रीकी गुलामों को प्रिंस हेनरी के सामने पेश करके दावा किया था कि अब पुर्तगाल किसी बाहरी एजेंसी से ख़रीदने के बजाय खुद पश्चिमी अफ़्रीका से गुलामों को हासिल कर सकता है। साल भर के भीतर ही पोप द्वारा पुर्तगाल को अफ़्रीकी महाद्वीप के अधिकार देने में कोई दिक्कत नहीं हुई, क्योंकि बाकी युरोप को उस समय तक गुलामों के इस व्यापार में कोई दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन धीरे-धीरे अटलांटिक के आर-

पार होने वाली इस तिजारत में दूसरे युरोपीय देशों ने भी हिस्सा बँटाना शुरू कर दिया।

गुलामों की तिजारत के लिए उपनिवेशवादियों ने पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीकी तटों पर पहराबंद चौकियाँ बनायीं और अफ्रीकी दलालों की मदद से सेनेगल से अंगोला तक फैली हुई तीन हजार मील लम्बी तटरेखा पर गुलामों के करीब बीस मुख्य और बहुत से छोटे-छोटे बाजार विकसित किये। अफ्रीकी रियासतों में होने वाले युद्धों के कारण उन्हें गुलामों की कमी नहीं पड़ी। हारे हुए लोग विजेताओं द्वारा गुलामों की तरह बेच दिये जाते थे। कर्जदारों को गुलाम बना लेना, अपहरितों और बंदियों को दासता की बेड़ियों में जकड़ देना आम बात थी। अकाल और सूखे की स्थितियाँ भी गुलामों की सप्लाई आसान कर देती थीं। धीरे-धीरे गुलामों की बिक्री युरोपीय किलों के भीतर भी होने लगी।

ट्रेडिंग कम्पनियाँ गुलामों को अपने व्यापारिक चिहनों से दागने के बाद पानी के जहाजों में अटलांटिक पार जाने के लिए चढ़ा देती थीं। ऐसी ही एक यात्रा मिडिल पैसेज के नाम से कुख्यात है जिसके जरिये करीब एक से डेढ़ करोड़ गुलामों को ढोया गया। इन यात्राओं के दौरान बेहद खराब क्रिस्म के जहाजों में निचले डेक के नीचे गुलामों को निहायत अमानवीय स्थितियों में रखा जाता था जिसके कारण मंजिल पर पहुँचते-पहुँचते बहुतों की मृत्यु हो जाती थी। अटलांटिक गुलाम व्यापार सोलहवीं से उन्नीसवीं सदी तक जारी रहा और इसकी निर्ममता ने लाखों-लाख दासों की जान ले ली। मिडिल पैसेज का अंत अमेरिका में होता था जहाँ दासों को सीधे उन व्यापारियों के पास ले जाया जाता था जो उनकी सप्लाई के लिए अग्रिम धनराशि का भुगतान कर चुके होते थे। इसके बात उनसे हफ्ते में छह दिन दस से बारह की छोटी-छोटी टोलियों में मशक्कत करवायी जाती थी। कुछ मुट्ठी भर गुलामों को कुशल मजदूरों, दस्तकारों और घरेलू नौकरों की तरह काम करने का मौका भी मिलता था। अट्टारहवीं सदी तक आते-आते चीनी, चाय, काफ़ी, रबड़ और तम्बाकू के बागानों में गुलामों द्वारा किये जाने वाले श्रम की बदौलत अमेरिका के साधारण मध्यवर्गीय व्यापारी धन-कुबेरों में बदल चुके थे और अमेरिकी उपनिवेश विश्व वाणिज्य के सबसे ज्यादा आकर्षक मक़ाम बन गये थे।

अट्टारहवीं सदी के मध्य में ये हालात बदलने शुरू हुए। उभरते हुए पूँजीवाद को उजरती श्रम अधिक फ़ायदेमंद लगने लगा। दासों की तिजारत की अमानवीय कह कर निंदा की जाने लगी। विलियम विल्बरफ़ोर्स, लॉर्ड ग्रेनविले और चार्ल्स डि फ़ॉक्स जैसे लोगों ने ब्रिटिश हाउस ऑफ़ कामंस में दास प्रथा के विरोध का झण्डा उठाया और दास-श्रम द्वारा बनाये जाने वाले किसी भी उत्पाद के बहिष्कार की अपील की। औद्योगिक क्रांति के बाद ब्रिटिश उद्योगपतियों और

निवेशकों को लग रहा था कि मुक्त श्रमिकों द्वारा ज्यादा आसानी से सस्ते उत्पाद बना कर मुनाफ़ा खींचा जा सकता है। परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड दास प्रथा के उन्मूलन आंदोलन का केंद्र बन गया जिसमें मानवतावादियों और व्यापारियों की समान भागीदारी थी। 25 मार्च, 1807 को ब्रिटिश संसद ने नये गुलामों को खरीदने पर पाबंदी लगाने का क़ानून पारित किया। इस तरह जो गुलाम बन चुके थे, उनकी स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ा। 1808 में अमेरिका में दास व्यापार प्रतिबंधित हो जाने का भी दास प्रथा पर कोई खास विपरीत असर नहीं पड़ा। 1815 की वियना कांग्रेस में ब्रिटेन ने गुलामों की तिजारत रोकने के लिए एक विशेष पुलिस फ़ोर्स बनाने का प्रस्ताव रखा जो पारित नहीं हो सका। इसके बाद ब्रिटिश नेवी ने अमेरिकी नेवी के सीमित समर्थन से गुलामों को ग़ैरक़ानूनी रूप से ढोने वाले जहाजों को पकड़ना शुरू किया।

ब्रिटेन में ग्रेनविले शार्प, थॉमस क्लार्कसन और थॉमस फ़ॉवेल बक्सटन ने अपने क़ानूनी और आंदोलनकारी प्रयासों से गुलामों के व्यापार की क्रूरता को स्पष्ट करने वाले प्रमाण जमा किये। दास प्रथा ख़त्म करने के लिए चली शांतिपूर्ण मुहिम आधुनिक युग का अपने क्रिस्म का पहला आंदोलन था। दास प्रथा विरोधी ये सभी नेता गोरे थे। उन्होंने दास प्रथा के काले विरोधियों और पूर्व गुलामों के साथ मिल कर काम किया और पूरे युरोप में इस मुहिम को फैलाने में कामयाबी हासिल की। 1834 में ब्रिटेन ने अपने सभी क्षेत्रों में दास प्रथा को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया। 1865 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने दासों को मुक्त करने का संवैधानिक क़दम उठाया। स्पेन इस प्रथा को क्यूबा और प्युट्रो रिको में 1873 और 1886 तक खींचता रहा। 1888 में दास प्रथा का उन्मूलन करने वाला आख़िरी देश ब्राज़ील था।

देखें : अफ़लातून, अमेरिकी क्रांति, उपनिवेशवाद।

### संदर्भ

1. जे.एच. फ्रेंकलिन और ए.ए. मॉस जू. (2000), *फ़ॉम स्लैवरी टू फ्रीडम : अ हिस्ट्री ऑफ़ अफ्रीकन अमेरिकंस*, मैकग्रा हिल, न्यूयॉर्क.
2. आई. बर्लिन (1998), *मैनी थाउज़ेंड्स गॉन : द फ़र्स्ट टू सेंचुरीज़ इन नॉर्थ अमेरिका*, बेलनैप प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.
3. आर.डब्ल्यू. फ़ोगेल (1994), *विदआउट कंसेंट ऑर कंट्रैक्ट : द राइज़ ऐंड फ़ॉल ऑफ़ अमेरिकन स्लैवरी*, नॉर्टन, न्यूयॉर्क.
4. ई.डी. जेनोवेज़ (1976), *रोल, जॉर्डन, रोल : द वर्ल्ड द स्लेव्स मेड, रैंडम हाउस, न्यूयॉर्क.*

— अभय कुमार दुबे



## दिन-प्रतिदिन के अभिलेखागार

(Archives of Everyday)

इंटरनेट पर वेब 2.0 प्रौद्योगिकी का चलन हो जाने के बाद समाज-वैज्ञानिकों के बीच इस बात पर ज़बरदस्त बहस है कि यू ट्यूब, फ़्लिकर, फ़ेस बुक और ऐसी ही कई साइट्स पर उनके यूज़र्स द्वारा नित्य-प्रति बनाये-बिगाड़े जा रहे रोज़ाना की ज़िंदगी के अभिलेखागारों का क्या मतलब है। वर्चुअल जगत में हो रही इन गतिविधियों के कारण दैनंदिन जीवन की परिभाषाओं पर परिवर्तनकारी असर पड़ रहा है। लोग इन साइट्स पर अपनी तस्वीरें, वीडियो-क्लिप्स और टिप्पणियाँ पोस्ट करते हैं जिन्हें कीवर्ड्स या मेटा-टैग्स के हायपरलिंक सिस्टम के ज़रिये खोजना, अपनाना या खारिज करना हर किसी के लिए मुमकिन हो गया है। मोबाइल फ़ोन से बनाये गये वीडियो, वेब-कैम के ब्लॉग्स, ध्वनि की रिकॉर्डिंग, डिजिटल फ़ोटोग्राफ़ों और होम वीडियो की मदद से रोज़मर्रा के जीवन की बातों, घटनाओं और अन्य गतिविधियों का दूर-दराज़ बैठे या अनजान लोगों से भी साझा किया जा सकता है। लोगों की अपनी निजी दिलचस्पियाँ, अभिरुचियाँ, राजनीतिक-सांस्कृतिक और धार्मिक टिप्पणियाँ या अन्य सोच-विचार भी इन अभिलेखागारीय व्यवहार के ज़रिये सार्वजनिक दायरे का अंग बन रहे हैं।

इंटरनेट को समकालीन दुनिया का सर्वाधिक अभूतपूर्व महा-अभिलेखागार माना जाता है। उसके जटिल स्थापत्य में कई तरह की पेचीदा अभिलेखागारीय प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल हुआ है। इन सभी तक तकनीकी रूप से अप्रशिक्षित साधारण नेट यूज़र्स की पहुँच नहीं है। लेकिन वेब 2.0 के आ जाने के बाद इस इंटरनेट यूज़र को कम से कम प्रौद्योगिकी की इतनी क्रिस्में तो उपलब्ध हो ही गयी हैं कि वह किसी भी ऑन लाइन अभिलेखागार में जा कर उसके किसी हिस्से को अपनी मर्जी से सम्पादित कर सकता है। इसी सुविधा का लाभ उठा कर ज्ञान के ऑन लाइन स्रोत के रूप में विकसित हुए विकीपीडिया जैसे आरकाइव में भी लोग अपनी मर्जी से हस्तक्षेप करते हैं। ख़ास बात यह है कि ये प्रौद्योगिकियाँ उत्तरोत्तर परिष्कृत होती जा रही हैं और इनके प्रभाव के तहत ज्ञान और सूचनाओं के भंडारण का चरित्र केंद्रीकृत नहीं रह गया है। इन अभिलेखागारों की प्रकृति और उनका विस्तार उन्हें बनाने और रखरखाव करने वालों के हाथ से निकल कर उनका इस्तेमाल करने वालों के हाथ में पहुँच गया है।

समाज-वैज्ञानिकों का एक हिस्सा नये मीडिया की प्रौद्योगिकी पर आधारित इस क्रम-विकास को चिंता की

निगाहों से देखता है। ज़िग्मंट बाउमन कहते हैं कि रोज़ाना के अभिलेखागारों का परिणाम वैयक्तिकीकरण की प्रक्रिया में निकला है। घर-बार के निजी सरोकार सार्वजनिक स्पेस और उन क्लासिकल दायरों में आ रहे हैं जिनका निजी और सार्वजनिक मुद्दों पर विचार करने के लिए इस्तेमाल होता रहा है। इसका ख़राब असर यह पड़ा है कि सार्वजनिक स्पेस और राजनीति का छुट्टीकरण होने लगा है। नागरिक (जिसका मानस सामूहिकता के प्रभाव से बनता है) सिमट कर उपभोक्ता (जो सिर्फ़ अपनी निजी ज़रूरतों और कामनाओं के बारे में सोचता है) रह गया है। बाउमन का यह विश्लेषण नेटवर्क सोसाइटी के प्रमुख सिद्धांतकार मैनुएल कैसेल्स की इस प्रस्थापना से मेल खाता है जिसमें वे सूचना-समाज को नज़दीकी बंधनों में बँधी हुई सामुदायिकता से हट कर 'मी-सेंटर्ड' नेटवर्कों की परिघटना क्रार देते हैं। एक अन्य विद्वान एंड्रू कीन और भी आक्रामक लहजे में कहते हैं कि वेब 2.0 प्रौद्योगिकी के कारण डिजिटल संसार में नाजानकारी, अज्ञान, अहंकार, भेदस रुचि और भीड़ की हुकूमत का मिश्रण तैयार हो गया है। इस दुनिया में 'सुचिंतित नागरिकता' अपने अंत की तरफ़ जा रही है। गली-मुहल्ले के लोगों और विशेषज्ञों के बीच का परम्परागत फ़र्क़ ख़त्म हो गया है। कीन यू ट्यूब से ख़ास तौर से नाराज़ हैं। उनका कहना है कि उसकी स्तरहीनता और बेहूदगी के सामने तो ब्लॉगिंग का घटियापन भी शर्मा जाता है। इस तरह की वेबसाइटें कीन के अनुसार 'हमारी संस्कृति को ख़त्म किये डाल रही हैं'। कोई भी माउस के एक क्लिक से किसी भी इबारत को कट-पेस्ट करके अपना बना सकता है जिसके नतीजे के तौर पर 'नैतिक अव्यवस्था' फैल रही है। रोज़ाना के अभिलेखागारों की यह आलोचना बीसवीं सदी के मध्य और आखिरी सालों के संस्कृति-उद्योग (विशेषज्ञ, रिपोर्टर, टीवी-प्रोड्यूसर, न्यूज़ एंकर, सम्पादक, संगीत-कंपनियाँ, फ़िल्म-उद्योग, आदि) को 'नये और शौकिया वीडियोग्राफ़र बंदरों' के बोलबाले से बचाने की कोशिश लगती है।

इस आलोचना के विपरीत दूसरे क्रिस्म के विद्वान रोज़ाना के अभिलेखागारों को केवल आत्म-प्रकाशन के लिए बेचैन लोगों के खेल-कूद का मैदान ही नहीं मानते। उनका कहना है कि इस ज़रिये इंटरनेट पर नये वर्चुअल समुदायों के उदय के साथ-साथ प्राइवेट-पब्लिक के मिलन और चर्चाओं का नया इलेक्ट्रॉनिक दायरा तैयार हो रहा है। इंटरनेट पर सार्वजनिक सरोकारों से प्रतिबद्ध व्यक्तियों और समूहों के सामूहिक सहयोग के बेहतरीन उदाहरण भी दिखाई देते हैं। इनमें मेडिकल सपोर्ट ग्रुप, मीडिया-एक्टिविज़म, भूमण्डलीकरण की आलोचना करने वाले समूह और न जाने कितनी ऐसी ही गतिविधियों की आसानी से शिनाख़्त की जा सकती है।

ज्ञान की राजनीति के संदर्भ में विकीपीडिया एक ऐसी ही बहुचर्चित साइट है जिसमें कोई भी यूजर कुछ भी जोड़ सकता है और कुछ भी सम्पादित कर सकता है। इसे 'सामूहिक बुद्धि' की संज्ञा दी गयी है (एंड्रू कीन की मान्यता है कि इस तरह के दोनों सिरो पर खुले हुए अभिलेखागारों का मतिभ्रष्ट लोगों द्वारा कबाड़ा कर दिया जाता है, क्योंकि उनकी लगाम ज्ञान के विशेषज्ञ पहरेदारों के हाथ में नहीं होती)। दरअसल, कीन की यह आलोचना उन अनगिनत 'विकीजंस' के प्रयासों का अवमूल्यन लगती है जो न केवल बिना किसी स्वार्थ के सूचनाएँ और ज्ञान सार्वजनिक स्पेस के लिए मुहैया करा रहे हैं, बल्कि प्रविष्टियों में मनगढ़ंत जोड़-घटाव के खिलाफ सतर्क भी रहते हैं।

विकीपीडिया और रोज़ाना के अभिलेखागार एक ऐसी परिघटना का विधेयक आधार बनते जा रहे हैं जो पारम्परिक क्रिस्म के समाजशास्त्रीय ज्ञान और विश्लेषण की सीमाओं को लाँघ कर ज्ञान की एक नयी राजनीति रचने की तरफ़ जा रही है। यूज़र्स ही इस तरह के इनसाइक्लोपीडिया को रचते हैं और उसका उपभोग करते हैं। जॉर्ज रिट्ज़र ने इसे कंज़्यूमर की जगह 'प्रोज़्यूमर' संस्कृति का नाम दिया है। रोज़ाना के अभिलेखागार राजसत्ता द्वारा ज्ञान के स्रोतों पर तैनात किये गये मजिस्ट्रेटों या संचालकों (देरिदा की भाषा में आरकंस) की निगरानी से सूचना को मुक्त करने की जिम्मेदारी निभा रहे हैं। बिटटोरेंट जैसी इंटरनेट का विकेंद्रीकरण कर देने वाली फ़ाइल-शेयरिंग प्रौद्योगिकी ने केंद्रीकृत नियंत्रण के हिसाब से चलने वाले परम्परागत सरकारी निज़ाम को एकदम निष्प्रभावी बना दिया है।

अर्जुन अप्पादुरै की मान्यता है कि निजी वेबसाइटों, तरह-तरह के समूहों द्वारा चलाये जा रहे सशुल्क और मुफ्त डिजिटल आरकाइवों, साइबरस्पेस में विशाल मात्रा में सूचना-सामग्री का भंडारण कर पाने के प्रावधानों, तस्वीरों-ध्वनियों-इबारतों को तेज़ रफ़्तार से कहीं भी भेज पाने की प्रौद्योगिकीय सुविधाओं ने अभिलेखागार को राज्य और उसके अधिकारियों की कक्षा से बाहर निकालने की सम्भावनाएँ पैदा की हैं। दूसरे, इस नयी परिघटना ने निजी, व्यावसायिक और बौद्धिक के बीच की सीमाओं को धुँधला कर दिया है।

**देखें :** अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

## संदर्भ

1. अर्जुन अप्पादुरै (2003), 'आरकाइव ऐंड इंसिपेरेशन', जे. ब्रौवर और ए. मुल्डर (सम्पा.), *इंफॉर्मेशन इज़ एलाइव*, वी2/एनयेआई, रोट्टरडम.
2. ज़िग्मंट बाउमन (2000), *लिविड मॉडर्निटी*, पॉलिटी, केम्ब्रिज.
3. एंड्रू कीन (2007), *द कल्ट ऑफ़ द एमेच्योर : हाउ टुडेज़ इंटरनेट इज़ क्लिंग अवर कल्चर ऐंड एसाल्टिंग अवर इकॉनॉमी*, निकोलस ब्रियली, बोस्टन और लंदन.
4. जॉर्ज रिट्ज़र (2007), 'थियराइज़िंग वेब 2.0', *युनिवर्सिटी ऑफ़ यॉक्स में हुए सेमिनार में प्रस्तुत आलेख*, 6 सितंबर.

— अभय कुमार दुबे

## दिल्ली

(Delhi)

दिल्ली को राष्ट्रीय राजधानी परिक्षेत्र (एनसीटी) के रूप में भी जाना जाता है। देश की राजधानी नयी दिल्ली का विशाल महानगर इस क्षेत्र का सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण अंग है। अभी तक दिल्ली की राजनीति मुख्य रूप से द्वि-ध्रुवीय रही है। कांग्रेस और भाजपा शुरू से ही इस राजनीति के केंद्र में रहे हैं। दिल्ली की राजनीति इसलिए भी रोचक है क्योंकि यहाँ देश के दूसरे भागों से आये लोगों की आबादी की संख्या ज्यादा है। बहुजन समाज पार्टी (बसपा) और आम आदमी पार्टी (आआपा) दिल्ली की राजनीति में तीसरे कोण की नुमाइंदगी करती हैं। बसपा पहले से सक्रिय है और आआपा का गठन इस राज्य के लिए एक ताज़ा घटना है। इसलिए सम्भावना है कि आने वाले समय में यहाँ की राजनीति द्वि-दलीय के बजाय बहुध्रुवीय हो जाए। दिल्ली का भौगोलिक आकार-प्रकार इतना बड़ा नहीं है कि यह मुल्क की राजनीति या लोकसभा के स्वरूप को ज्यादा प्रभावित कर सके। पर दिल्ली की आबादी का गठन, उनके वोट डालने का रुझान, यहाँ की राजनीति का दो दलीय स्वरूप और यहाँ उठने वाले मुद्दे पूरे देश की राजनीति का पूर्वाभास देते हैं। यह भी सच है कि दिल्ली के एक छोटा प्रदेश होने के बावजूद यहाँ की राजनीति में सक्रिय लोगों को केंद्र की राजनीति में काफ़ी महत्त्व मिलता रहता है। उल्लेखनीय है कि संविधान के 69वें संशोधन द्वारा दिल्ली को कुछ स्वायत्तता दी गयी और इसे सीमित अर्थों में राज्य का दर्जा दिया गया। यह प्रावधान किया गया कि दिल्ली की अपनी विधानसभा और मुख्यमंत्री होंगे। लेकिन दिल्ली सरकार को पुलिस और सुरक्षा व्यवस्था जैसे महत्त्वपूर्ण काम नहीं दिये गये। स्पष्टतः भारत के राज्यों में





इस व्यवस्था को खत्म करके दिल्ली को एक केंद्रशासित प्रदेश के रूप में उप-राज्यपाल के अधीन कर दिया गया। इसका एक सबसे बड़ा यह मानना था कि देश की राजधानी होने के कारण इसे सीधे तौर पर केंद्र सरकार के अधीन ही रखा जाना चाहिए।

राज्य का दर्जा मिलने के यहाँ अभी तक चार बार विधानसभा चुनाव हुए हैं। 1993 में हुए लोकसभा चुनावों में भारतीय जनता पार्टी को पूर्ण बहुमत मिला और इसे कुल 49 सीटों पर जीत मिली। इसके नेता मदनलाल खुराना राज्य के मुख्यमंत्री बने। लेकिन 1996 में भ्रष्टाचार का आरोप लगने के कारण मदनलाल खुराना को इस्तीफा देना पड़ा और इनकी जगह साहिब सिंह वर्मा राज्य के मुख्यमंत्री बने। लेकिन 1998 के विधानसभा चुनावों के ठीक पहले भाजपा ने वर्मा को हटाकर सुषमा स्वराज को राज्य का मुख्यमंत्री बनाया। ऐसा करने के पीछे एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि राज्य में महँगाई में बेतहाशा वृद्धि होने के कारण भाजपा सरकार काफ़ी अलोकप्रिय हो गयी थी। सुषमा स्वराज को मुख्यमंत्री बनाकर भाजपा ने अगले चुनावों में एक नये चेहरे के साथ जाना चाहती थी। लेकिन 1998 के दिल्ली विधानसभा चुनावों में भाजपा को हार का सामना करना पड़ा। इन चुनावों में कांग्रेस 52 सीटों पर जीत के साथ कांग्रेस को बहुमत मिला और शीला दीक्षित राज्य की मुख्यमंत्री बनी। इसके बाद हुए दो विधानसभा चुनावों (अर्थात् 2003 और 2008) में भी शीला दीक्षित के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी को जीत मिली। 2003 में इसे 43 सीटों पर जीत मिली और 2008 में 41 सीटों पर जीत मिली। 1998 अब तक (2013 में होने वाले के चुनावों के पहले तक) शीला दीक्षित ही राज्य की मुख्यमंत्री हैं।

कांग्रेस की इन लगातार जीतों के पीछे कुछ कारणों को रेखांकित किया जा सकता है : पहला, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि दिल्ली में लोगों के सामान्य जीवन से जुड़ी जरूरतों को पूरा करने में कांग्रेस सरकार का प्रदर्शन तुलनात्मक रूप से अच्छा रहा है। इसमें बहुत सारी चीजें इसलिए भी हुईं क्योंकि दिल्ली देश की राजधानी है, लेकिन चूँकि कांग्रेस सरकार में थी, इसलिए उसे इसका फ़ायदा मिला। दूसरा, दिल्ली की राजनीति के द्वि-ध्रुवीय होने का फ़ायदा भी कांग्रेस को मिला। बहुत सारे समूह जो भाजपा और कांग्रेस-दोनों को पसंद नहीं करते हैं, उनके लिए कांग्रेस एक छोटी बुराई के रूप में सामने आती है। मसलन, कोई तीसरा विकल्प न होने की स्थिति में दिल्ली का मुसलमान मतदाता कांग्रेस को ही वरीयता देता है, क्योंकि भाजपा के प्रति उसका संदेह बहुत गहरा है। तीसरा, भाजपा ने इन वर्षों में कभी भी आंदोलनकारी राजनीति अपना कर कांग्रेस को घेरने की कोशिश नहीं की। इसका फ़ायदा भी कांग्रेस को मिला।

दूसरी तरफ़ यह भी सच है कि 2008 के बाद कांग्रेस

सरकार की मुश्किलें लगातार बढ़ती गयी हैं। इस संदर्भ में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं : पहला, 2010 में हुए कॉमनवेल्थ खेलों के दौरान हुए घोटालों में दिल्ली की मुख्यमंत्री शीला दीक्षित का नाम आने से उनकी छवि को गहरा धक्का लगा। दूसरा, दिल्ली में बिजली की दरों के लगातार और मनमाने तरीके से होने वाली बढ़ोतरी न भी कांग्रेस सरकार को कटघरे में खड़ा किया है। तीसरा, यद्यपि दिल्ली की पुलिस-व्यवस्था राज्य सरकार के पास नहीं है। फिर भी, केंद्र और राज्य दोनों ही जगहों पर कांग्रेस की सरकार होने के कारण कांग्रेस इसकी जिम्मेदारी से पल्ला नहीं झाड़ सकती है। राजधानी लगातार बढ़ते अपराधों के कारण लोगों में सरकार के प्रति गुस्सा बढ़ा है। चौथा, ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि राज्य की राजनीति में प्रवासी, खासतौर पर पूर्वांचल के लोगों का महत्व काफ़ी बढ़ा है। ऐसे में, कई बार खुद शीला दीक्षित के द्वारा इन क्षेत्रों से आये लोगों के खिलाफ़ नकारात्मक टिप्पणी ने भी उनकी छवि प्रवासी विरोधी की बना दी है। पाँचवा, खास बात यह है कि नवम्बर, 2012 में अरविंद केजरीवाल के नेतृत्व में आम आदमी पार्टी के गठन ने दिल्ली की राजनीति में एक गैर-कांग्रेस, गैर-भाजपा दल के उभार की सम्भावना जाग्रत की है। इस पार्टी ने भ्रष्टाचार पर ध्यान केंद्रित करके बिजली बिलों आदि को लेकर आंदोलनकारी रुख अख़्तियार किया है। अभी यह कहना जल्दबाजी होगी कि चुनावों में इस पार्टी को कितनी सफलता मिलेगी या इसके चुनावी प्रदर्शन से कांग्रेस या भाजपा में से किसे ज़्यादा नुक़सान होगा।

देखें : अरुणाचल प्रदेश, असम, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गोवा, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पंजाब, पश्चिम बंग, बिहार, मणिपुर, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मिज़ोरम, मेघालय, राजस्थान, सिक्किम, हरियाणा।

## संदर्भ

1. अरविंद मोहन (2009). 'दिल्ली : क्रद से बड़ी राजनीति', अरविंद मोहन (सम्पा.), *लोकतंत्र का नया लोक : चुनावी राजनीति में राज्यों का उभार*, वाणी प्रकाशन-लोकनीति-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.
2. संजय कुमार (2004), 'अ टेल ऑफ़ श्री सिटीज़', सेमिनार 534, नयी दिल्ली.
3. संजय कुमार (2009). 'चेंजिंग फ़ेस ऑफ़ दिल्लीज पॉलिटिक्स', क्रिस्टॉफ़े जैफ़्रेलॉ और संजय कुमार (सम्पा.), *राइज़ ऑफ़ प्लेबियंस*, सेंटलेज, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे



## द्वितीय विश्व-युद्ध

(Second World War)

द्वितीय विश्व-युद्ध (1939-1945) बीसवीं सदी की एक ऐसी घटना थी जिसके परिणामस्वरूप युरोपीय उपनिवेशवाद का अंत हो गया और वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया निर्णायक चरण में पहुँच गयी। द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण ही विश्व की राजनीति पर अगले पैंतालीस साल के लिए दो महाशक्तियों का प्रभुत्व छा गया। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच हुई होड़ से शीत-युद्ध का जन्म हुआ। भविष्य में इस प्रकार के खूनी युद्धों से बचने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गयी। द्वितीय विश्व-युद्ध के फ़ौरी परिणामों से प्रभावित घटनाक्रम में चीन की कम्युनिस्ट क्रांति और गुटनिरपेक्ष आंदोलन के उभार को भी शुमार किया जा सकता है। विचारधारात्मक रूप से द्वितीय विश्व-युद्ध के परिणामों ने फ़ासीवादी विचारधारा को हाशिए पर धकेल दिया। 1945 के बाद राष्ट्रीय विकास के मॉडल के रूप में एक तरह का ध्रुवीकरण देखा गया। एक तरफ़ उदारतावादी लोकतंत्र और बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था का मॉडल रहा, और दूसरी तरफ़ ग़रीब और अविकसित देशों में विकास का सोवियत मॉडल कहीं पूरी तरह तो कहीं आंशिक रूप से अपनाया जाने लगा। फ़ासीवाद की पराजय में सोवियत संघ की उल्लेखनीय फ़ौजी भूमिका के कारण युद्ध के बाद सारी दुनिया में समाजवादी विचार और राजनीति को नये सिरे से वैधता प्राप्त हुई।

क़रीब छह करोड़ लोगों को मौत के घाट उतार देने वाला मानव इतिहास का यह सबसे ख़ौफ़नाक युद्ध दो फ़ौजी गठजोड़ों के बीच लड़ा गया था। एक तरफ़ मित्र राष्ट्र (ब्रिटेन, फ़्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ, पोलैण्ड, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिण अफ़्रीका, बेल्जियम, नीदरलैंड्स, यूनान, युगोस्लाविया और नार्वे) थे, और दूसरी तरफ़ धुरी राष्ट्र (जर्मनी, जापान, इटली, हंगरी, रोमानिया, फ़िनलैण्ड, थाईलैण्ड, बल्गारिया, क्रोशिया और स्लोवाकिया) थे। युद्ध की शुरुआत 1 सितम्बर, 1939 को हुई जब नाज़ी जर्मनी ने पोलैण्ड पर हमला किया। इसी के फ़ौरन बाद फ़्रांस और ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़े सभी देशों ने जर्मनी के खिलाफ़ युद्ध का एलान कर दिया। बाद में जर्मनों द्वारा सोवियत संघ पर किये गये हमले और जापानियों द्वारा प्रशांत महासागर में पर्ल हारबर पर तैनात अमेरिकी बेड़े पर बमबारी किये जाने पर अमेरिका और सोवियत संघ भी युद्ध में कूद पड़े। इस युद्ध में ग़ैर-फ़ौजी आबादी को बड़े पैमाने पर निशाना बनाया गया, होलोकास्ट के रूप में यहूदियों के जातिसंहार की भीषण परिघटना सामने आयी और आणुविक

अस्त्रों का पहली (अभी तक अंतिम) बार इस्तेमाल किया गया। युद्ध का अंत 14 अगस्त, 1945 को धुरी राष्ट्रों की पराजय के साथ हुआ। इसी के अट्टारह दिन बाद दो सितम्बर को अंतिम धुरी राष्ट्र जापान ने अमेरिकी एटम बमों की मार से कराहते हुए हथियार डाल दिये।

द्वितीय विश्व-युद्ध का प्रचलित इतिहास प्रमुख मित्र राष्ट्रों सोवियत संघ, अमेरिका और ब्रिटेन के बीच बनी सहमति और साझा हितों के आख्यान पर ज़्यादा जोर देता है। पर असलियत यह थी कि इन ताक़तों के बीच शुरू से ही गहरे मतभेद थे जो युद्ध ख़त्म होते ही उभर कर सामने आ गये। दिलचस्प तथ्य यह है कि उन्नीसवीं सदी के दौरान अमेरिका और रूस ने अपने औपनिवेशिक साम्राज्य का काफ़ी विस्तार कर लिया था, पर बीसवीं सदी में ये दोनों ताक़तें बदले हुए रूप में उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा से लैस हो कर सामने आयी। इसका प्रभाव युरोपीय उपनिवेशवाद पर पड़ा। अमेरिकी नेतृत्व आत्मनिर्णय के सिद्धांत का प्रतिपादन प्रथम विश्व-युद्ध के बाद कर चुका था। सोवियत संघ ने भी इसका समर्थन किया। युरोप में फ़ासीवाद विरोधी राष्ट्रवाद के उभार और एशिया-अफ़्रीका में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की दावेदारियों ने युद्ध के बाद विश्व की राजनीति को पूरी तरह से बदल डाला।

प्रथम विश्व-युद्ध की तरह द्वितीय विश्व-युद्ध में भी उपनिवेशों के संसाधनों और फ़ौजों की गोलबंदी निर्णायक साबित हुई। धुरी राष्ट्रों का प्रमुख सदस्य जर्मनी पहली बड़ी लड़ाई के परिणामस्वरूप पूर्वी और दक्षिण-पश्चिमी अफ़्रीका में अपने उपनिवेश खो चुका था। दूसरी बड़ी लड़ाई छेड़ कर वह अपने लिए 'लिविंग स्पेस' हासिल करना चाहता था। उधर जापान अपने सतत औद्योगिक विकास के लिए पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के संसाधनों पर निर्भर था। जर्मनी और जापान की ये मत्वाकांक्षाएँ युरोपीय उपनिवेशवाद के साथ सीधे टकराव में खड़ी थीं।

मई, 1940 में नाज़ी जर्मनी की फ़ौजों ने एक ही हल्ले में हालैण्ड और बेल्जियम पर क़ब्ज़ा किया और फिर जल्दी ही फ़्रांस ने उसकी ताक़त के सामने घुटने टेक दिये। ब्रिटेन समुद्र से घिरा द्वीप होने के कारण जून से लेकर सितम्बर तक किसी न किसी प्रकार जर्मनों का प्रतिरोध करने में कामयाब रहा। इस दौरान उसे अपने विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य के संसाधनों को अपने पक्ष में लामबंद करने का वह मौक़ा मिला जो अन्य युरोपीय औपनिवेशिक ताक़तों को अचानक पराजय के कारण नहीं मिल पाया था। जर्मन वायु सेना लुतवाफ़े इस ब्रिटिश रणनीति को कामयाब होने से नहीं रोक सकी।

एशिया में जब जापान ने ब्रिटिश मलय क्षेत्र और फिर सिंगापुर को हस्तगत किया तो ब्रिटिश भारत पर उसके हमले के अंदेशे मँडराने लगे। इससे स्पष्ट हो गया कि इस क्षेत्र में

युरोपीय ताकतें बहुत मजबूत स्थिति में नहीं हैं। ब्रिटेन के लिए लाजमी हो गया कि वह अपनी रक्षा के लिए भारतीय सेना की मदद ले, पर इसके लिए उसे भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं के साथ सौदेबाजी की राजनीति में उतरना पड़ा। दूसरी तरफ दक्षिण-पूर्व एशिया के संसाधनों के हाथ से निकल जाने के कारण अंग्रेजों ने अपने पश्चिम अफ्रीकी उपनिवेशों से रबड़ और खाद्यान्न का अधिक दोहन करना शुरू कर दिया। नतीजतन अफ्रीका में भी राष्ट्रवादी भावनाओं को नया उछाल मिला।

अमेरिका शुरू में युरोपीय उपनिवेशवादियों के युद्ध में हाथ डालने के लिए तैयार नहीं था। वह अलग-थलग रहने की 'आइसोलेशनिस्ट' नीति पर चल रहा था। हालाँकि उसके अपने इतिहास पर उपनिवेशवाद के दाग लगे हुए थे, लेकिन स्वतंत्रता के घोषणापत्र (1776), मुनरो डॉक्ट्रिन (1823) और फिर वुड्रो विल्सन के चौदह सूत्रों (1918) के कारण बीसवीं सदी के इस दौर में अमेरिकी राजनीति में उपनिवेशवाद विरोधी रुझान अहमियत हासिल कर चुके थे। 1941 में जापान द्वारा अपनी साम्राज्यिक महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित पर्ल हार्बर पर हमला करने और अमेरिकी उपनिवेश फिलीपीन पर भी कब्जा कर लेने के बाद अमेरिका को अपनी यह नीति त्यागनी पड़ी। ब्रिटेन को अमेरिकी मदद की जरूरत थी, और अमेरिका को लग रहा था कि ब्रिटेन द्वारा औपनिवेशिक संसाधनों की गोलबंदी के बिना यह युद्ध नहीं जीता जा सकता। युद्ध के बाद और शीत-युद्ध के दौरान सोवियत संघ से होड़ के खातिर अमेरिका को औपनिवेशिक प्रणाली की अपनी आलोचना को नरम करना पड़ा।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने सारी दुनिया में तरह-तरह की सामाजिक और राजनीतिक अपेक्षाओं को जन्म दिया जिनकी अभिव्यक्तियाँ युद्ध के दौरान और युद्ध के बाद देखने में आयीं। एरिक हॉब्सबॉम मानते हैं कि विंस्टन चर्चिल की चुनाव में युद्धोपरांत पराजय भी परिवर्तन की इन्हीं आकांक्षाओं का नतीजा थी। युद्ध के दौरान ही एशियायी राष्ट्रवादियों को जर्मनी और जापान के हाथों युरोपीय ताकतों की पराजय देख कर विश्वास हो गया कि वे इस परिस्थिति का लाभ अपने पक्ष में उठा सकते हैं। भारत में सुभाष चंद्र बोस द्वारा जापानियों की मदद से आजाद हिंद फौज का गठन, गाँधी द्वारा अंग्रेजों के खिलाफ़ भारत छोड़ो आंदोलन की शुरुआत, इंडो-चीन में हो ची मिन्ह द्वारा 1941 में वियतमिन्ह की स्थापना इसके सबूत के तौर पर देखी जा सकती है। एशियायी राष्ट्रवादी और उपनिवेशवाद विरोधी ताकतों का विचार था कि अंग्रेजों की जगह जापानी कब्जा उन्हें अपेक्षाकृत छूट दे सकता है। जापानी युद्ध प्रयास ज्यादातर शहरों में केंद्रित थे, इसलिए राष्ट्रवादियों को लगा कि उनके आंदोलन गाँवों में अपना आधार अधिक सहजता के साथ विकसित कर सकते हैं।

युद्ध के बाद अमेरिका ने एक तरफ तो ध्वस्त पड़े युरोप के पुनर्निर्माण के लिए मार्शल प्लान जैसे कार्यक्रम चलाये, और दूसरी तरफ़ वि-उपनिवेशीकरण की रफ़्तार थामने के लिए संयुक्त राष्ट्र के तहत ट्रस्टीशिप प्रणाली की तजवीज़ के साथ सामने आया। दरअसल, पूँजीवादी देशों में सिर्फ़ अमेरिका ही ऐसा था जिसने युद्ध के दौरान सबसे कम नुकसान उठाया था। अपनी फ़ौजी और औद्योगिक ताकत के दम पर वह पश्चिमी युरोप के रक्षक की हैसियत प्राप्त करने में कामयाब रहा। विश्व-अर्थव्यवस्था का प्रबंधन करने के मकसद से आयोजित किये गये ब्रेटन वुड्स सम्मेलन में अमेरिका ने कई ब्रिटिश प्रस्तावों को नकार कर दिखा दिया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सूरज वास्तव में ढल गया है। सोवियत संघ ने हर जगह अमेरिकी प्रभुत्व को प्रतिस्थापित करने के लिए रियायती आर्थिक और प्रौद्योगिकीय मदद देने में तत्परता दिखाई। अमेरिकी प्रभुत्व को शुरुआती चुनौती देने में मिली उसकी सफलताओं का सिलसिला सत्तर के दशक में टूटा जब माओ त्से-तुंग और निक्सन की जुगलबंदी के कारण चीन समाजवादी खेमे से टूट कर अलग हो गया।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, तृतीय विश्व, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निरस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट कानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

### संदर्भ

1. नॉर्मन डेवीस (2004), *युरोप एट वार 1939-1945 : नो सिम्पल विक्ट्री*, मैकमिलन, लंदन.
2. मार्क हैरिसन (2000), *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ वर्ल्ड वार सेकण्ड : सिक्स ग्रेट पावर्स इन इंटरनेशनल कम्पटीशन*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. एंथनी पी. ऐडमथ्वाइट (1992), *द मेकिंग ऑफ़ द सेकण्ड वर्ल्ड वार*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क.
4. एल. जेरहार्ड वाइनबर्ग (1995), *अ वर्ल्ड एट आहर्स : अ ग्लोबल हिस्ट्री ऑफ़ वर्ल्ड वार सेकण्ड*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

## दुर्गाबाई देशमुख

(Durgabai Deshmukh)

आंध्र महिला सभा की संस्थापक, स्वतंत्रता सेनानी और संविधान सभा की सक्रिय सदस्य दुर्गाबाई देशमुख (1909-1981) का संघर्षपूर्ण जीवन स्त्री-कल्याण के लिए समर्पित था। दुर्गाबाई उन स्त्रियों में से थीं जिनकी पृष्ठभूमि धनी-मानी राजनीतिकृत परिवारों की नहीं थी। स्वतंत्रता आंदोलन में अधिकतर कांग्रेस नेताओं और समाज के धनी-कुलीन प्रभावशाली परिवार की स्त्रियाँ ही हिस्सा लेती थीं। मध्यम या सामान्य वर्ग की स्त्रियाँ हिस्सा लेने के बावजूद भी प्रमुख भूमिका निभाने में असमर्थ रह जाती थीं। दुर्गाबाई इस नियम की अपवाद साबित हुईं। 1946 में दुर्गाबाई संविधान सभा की सदस्य चुनी गयीं। वे सभा की एक भी बैठक में अनुपस्थित नहीं हुईं। संविधान सभा में दुर्गाबाई ने 750 संशोधन पेश किये। डॉ. आम्बेडकर उन्हें अत्यधिक विचारशील स्त्री के लक़ब से पुकारते थे। हिंदू कोड बिल के निर्माण में भी दुर्गाबाई ने उल्लेखनीय योगदान दिया।

अपनी राष्ट्रव्यापी मुहिम के दौरान 1921 में गाँधी ने मद्रास प्रेसीडेंसी के गोदावरी जिले का दौरा किया। वहाँ दुर्वुरि सुब्बामम वे स्वतंत्रता आंदोलन के लिए स्थानीय स्त्रियों को साथ लेकर देवसेविका समूह बनाने का संकल्प लिया। इसके बाद गाँधी पास के शहर काकीनाडा जाने वाले थे। काकीनाडा की एक दृढ़संकल्पी लड़की दुर्गाबाई ने स्थानीय देवदासियों को गाँधी के शहर में आने के बारे में बताया। बाद में दुर्गाबाई ने कांग्रेस के स्थानीय नेताओं से पूछा क्या गाँधी की इन देवदासियों अलग से एक मुलाक्रात हो सकती है। कांग्रेस नेताओं ने मुलाक्रात को टालने के लिए कहा कि यदि गाँधी के अभियान के लिए दुर्गाबाई 5,000 रुपये का चंदा दे सकें तो गाँधी की देवदासियों से दस मिनट की संक्षिप्त मुलाक्रात सम्भव है। देवदासियों ने 5,000 रुपये की यह राशि इकट्ठा की और अगले दिन सुबह स्थानीय स्कूल के अहाते में गाँधी ने एक हजार स्त्रियों से एक घंटे तक बातें की जिसमें दुभाषिये का काम दुर्गाबाई ने किया। अपनी इस मुलाक्रात की समाप्ति पर देवदासियों ने अपने गहने भी उतार कर गाँधी को दे दिये। देवदासियों के इन गहनों का मूल्य उन दिनों करीब 20,000 रुपये था। दुर्गाबाई की संगठन-शैली, अनुवाद क्षमता और उद्बोधन से गाँधी इतने प्रभावित हुए कि पूरे क्षेत्र में अपने भाषणों के अनुवाद का काम उन्होंने दुर्गाबाई को ही सौंप दिया।

दुर्गाबाई का जन्म आंध्र प्रदेश के पूर्वी गोदावरी जिले के एक मध्यम वर्गीय परिवार में 15 जुलाई, 1909 को हुआ था। मात्र आठ वर्ष की आयु में उनका विवाह स्थानीय



दुर्गाबाई देशमुख (1909-1981)

जर्मीदार के दत्तक पुत्र से कर दिया गया। चार साल बाद जब दुर्गाबाई ने अपने वैवाहिक जीवन की वास्तविक शुरुआत हुई तो उन्होंने इस संबंध में न रहने का निर्णय लिया। 12 वर्ष की अवस्था में ही दुर्गाबाई ने दक्षिण भारतीय हिंदी प्रचारिणी सभा की काकीनाडा शाखा में स्वयं हिंदी सीखने के दौरान ही अन्य लोगों को पढ़ाना शुरू कर दिया। इसके बाद उन्होंने अपने माता-पिता को अपने घर का एक भाग हिंदी स्कूल चलाने के लिए दान देने को तैयार किया। शहर में एक शराबी द्वारा अपनी पत्नी की पिटाई के विरोध में दुर्गाबाई ने ऐसे पतियों के खिलाफ एक जुलूस निकाला और ऐसे पुरुषों के सामाजिक बहिष्कार की माँग उठायी। गाँधी की देवदासियों से मुलाक्रात कराने के बाद दुर्गाबाई ने कांग्रेस सेविका के रूप में स्वतंत्रता आंदोलन में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। 1923 के काकीनाडा कांग्रेस अधिवेशन में दुर्गाबाई और उनके हिंदी पाठशाला के विद्यार्थियों ने स्वयं सेवकों के रूप में बेहद अहम भूमिका निभायी। इसी अधिवेशन के साथ आयोजित खादी प्रदर्शनी में दुर्गाबाई ने जवाहरलाल नेहरू को बिना टिकट प्रवेश करने से रोक दिया जिसके परिणामस्वरूप दुर्गाबाई को डाँट तो खानी पड़ी, लेकिन नेहरू उनकी कर्तव्य परायणता के कायल हो गये।

पिता की मृत्यु के बाद दुर्गाबाई का परिवार मद्रास चला आया। वहाँ नमक सत्याग्रह में भाग लेने के दौरान उन्हें गिरफ्तार करके वेल्लोर जेल भेज दिया गया। अपनी तीन साल की जेल यात्राओं में दुर्गाबाई ने अन्य स्त्रियों की दुर्दशा और उनकी अज्ञानता को बेहद पास से देखा-समझा। एक साल के मद्रै जेल प्रवास के दौरान दुर्गाबाई को मृत्यु दण्ड की प्रतीक्षा कर रहे कैदियों के बगल में रखा गया था। यहाँ से रिहा होते-होते दुर्गाबाई बेहद अस्वस्थ हो गयीं। दुर्गाबाई गाँधी और



कस्तूरबा के साथ उनके आश्रम में कई बार रह चुकी थी लेकिन अब उन्होंने सक्रिय आंदोलन के स्थान पर अध्ययन करने का निर्णय लिया। मदन मोहन मालवीय की सलाह पर बनारस हिंदी विश्वविद्यालय से मैट्रिक की परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए एक द्रुतगामी पाठ्यक्रम में नाम लिखाया। केवल नौ महीनों में दुर्गाबाई ने अपनी परीक्षा विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण की। दुर्गाबाई ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से राजनीतिशास्त्र में स्नातक की पढ़ाई करना चाहती थीं लेकिन मालवीय इसके पक्ष में नहीं थे। उनके अनुसार राजनीति शास्त्र की पढ़ाई लड़कियों के लिए उपयुक्त नहीं थी। दुर्गाबाई ने आंध्र विश्वविद्यालय से 1939 में राजनीति शास्त्र में बीए ऑनर्स किया जो उस समय एमए के समतुल्य था। वे उच्च अध्ययन के लिए लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स जाना चाहती थीं लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण यह सम्भव नहीं हुआ और उन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय में कानून की पढ़ाई शुरू कर दी।

कानून की पढ़ाई के पहले साल में ही दुर्गाबाई ने आंध्र स्त्री सभा के नाम से एक संस्था स्थापित की। दुर्गाबाई ने स्वयं एक संक्षिप्त पाठ्यक्रम से अपनी पढ़ाई की थी इसलिए उन्होंने अन्य वयस्क स्त्रियों को मैट्रिक की परीक्षा की तैयारी के लिए तीन साल का द्रुतगामी पाठ्यक्रम बनाया जिसके माध्यम से हजारों स्त्रियों को स्कूल तक की पढ़ाई की सुविधा प्राप्त हुई। इसी प्रकार उन्होंने सहायक परिचारिकाओं और दाइयों के प्रशिक्षण का भी एक पाठ्यक्रम चलाया और नर्सरी स्कूल तथा कामकाजी स्त्रियों के बच्चों की देखभाल केंद्र जैसी सुविधाएँ भी उपलब्ध करायीं। आंध्र स्त्री सभा ने औपचारिक व अनौपचारिक शिक्षा द्वारा शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री साक्षरता के लिए भारी योगदान दिया। भारत में परिवार कल्याण के क्षेत्र में भी आंध्र स्त्री सभा द्वारा प्रशिक्षित सहायक परिचारिकाओं ने बड़ी भूमिका निभायी थी। 1942 में दुर्गाबाई को वकील की उपाधि मिली। इसके बाद उन्होंने फ़ौजदारी की वकालत की जो उस समय के हिसाब से स्त्रियों के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त समझी जाती थी।

1952 के आम चुनाव में दुर्गाबाई ने राजमुंदरी लोकसभा क्षेत्र से कांग्रेस प्रत्याशी के रूप में चुनाव लड़ा लेकिन वे हार गयीं। इसके बाद प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें योजना आयोग के सदस्य के रूप में मनोनीत किया। आयोग में दुर्गाबाई को समाज कल्याण से संबंधित विषयों पर ध्यान केंद्रित करने के लिए कहा गया। अपने कार्यकाल के दौरान दुर्गाबाई का तत्कालीन वित्त मंत्री सी.डी. देशमुख से परिचय बढ़ा और दोनों ने विवाह करने का निर्णय लिया। इसी साल 1953 में दुर्गाबाई देशमुख को केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड का अध्यक्ष बनाया गया। इस संगठन का उद्देश्य स्वयंसेवक संगठनों और सरकारी विभागों के बीच में एक सेतु का काम करना था। दुर्गाबाई इस बोर्ड के अध्यक्ष पद पर

दस सालों तक रहीं। राष्ट्रीय स्त्री शिक्षा समिति के अध्यक्ष के रूप में दुर्गाबाई देशमुख ने स्त्री-शिक्षा के प्रसार के लिए अनेकों महत्त्वपूर्ण नीतिगत सुझाव दिये।

इसी दौरान आंध्र स्त्री सभा की गतिविधियों में भी बहुत विस्तार हुआ। इसकी नयी शाखाएँ स्थापित हुईं और अस्पताल, नर्सिंग होम तथा स्त्रियों के लिए शैक्षणिक संस्थाएँ भी स्थापित की गयीं। दुर्गाबाई ने आंध्र स्त्री सभा के तत्वावधान में आंध्र एजुकेशनल सोसाइटी की स्थापना की। नयी दिल्ली का प्रसिद्ध श्रीवेंकटेश्वर कॉलेज इसी आंध्र एजुकेशनल सोसाइटी की देन है। साठ के दशक के आखिरी सालों में दुर्गाबाई ने दिल्ली में नेत्रहीनों के कल्याण के लिए नेत्रहीन कल्याण संघ की स्थापना की। केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड के अध्यक्ष के तौर पर दुर्गाबाई ने जनसंख्या नियंत्रण पर क्षेत्रीय सम्मलेन आयोजित किये ताकि जनसंख्या नीति को समग्र आर्थिक विकास और जन-कल्याण के अभियान से जोड़ा जा सके। 1975-76 में दुर्गाबाई ने मधुमेह की बीमारी के कारण अपनी दृष्टि खो दी। 9 मई, 1981 को हैदराबाद में उनका देहांत हो गया।

**देखें :** अरुणा आसफ़ अली, आनंदीबाई जोशी, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, कमला देवी चट्टोपाध्याय, गृह-विज्ञान, दलित-नारीवाद, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, महादेवी वर्मा, संतोष कुमारी देवी।

### संदर्भ

1. दुर्गाबाई देशमुख (1980), *चिंतामन ऐंड आई*, अलाइड पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
2. सी.डी. देशमुख (1974), *कोर्स ऑफ़ माय लाइफ़*, ओरिएंट लांगमैन, बम्बई.
3. बी.एन. गांगुली (सम्पा.) (1977), *डेवलपमेंट एसेज़ इन द ऑनर ऑफ़ श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख*, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.

— रवि दत्त वाजपेयी

## देवकी जैन

(Devaki Jain)

विकासशील देशों की प्रमुख नारीवादी अर्थशास्त्री देवकी जैन ने विकास की वैकल्पिक स्त्रियोन्मुख अवधारणा के विकास में न केवल उल्लेखनीय योगदान किया है, बल्कि संबंधित संस्थान-रचना के लिए भी पहलकदमियाँ ली हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के दिशा-निर्देशों के तहत विकासशील और अविकसित देशों (ग्लोबल साउथ) की स्त्री संबंधी नीतियों की आलोचना प्रस्तुत करने वाली देवकी जैन के अनुसार यह





देवकी जैन (1933- )

परिपाटी नकारात्मक साबित होती है क्योंकि ग्लोबल साउथ के लिए विकसित देशों के नुस्खे प्रतिकूल सिद्ध होते हैं। आम आदमी के प्रचलित मुहावरे के स्थान पर आम औरत के मुहावरे की स्थापना करने वाली देवकी जैन ने 1984 में विकासशील देशों के प्रमुख विचारकों के साथ डॉन (डिवेलपमेंट ऑल्टरनेटिव्स विद वुमन फॉर अ न्यू ऐरा) की स्थापना की। यह ऐसे नारीवादी विद्वानों और शोधकर्ताओं का नेटवर्क है जो आर्थिक समानता, लैंगिक न्याय के साथ दीर्घकालिक लोकतांत्रिक विकास के क्षेत्र में काम कर रहा है। यह तीसरी दुनिया के विद्वानों को नारीवादी अनुसंधान और विश्लेषण के लिए एक मंच प्रदान करता है। इस मंच द्वारा वैश्विक आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों का, गरीब और हाशिये पर रह रही स्त्रियों की आजीविका, जीवन स्तर, उनके विकास की सम्भावनाओं पर प्रभाव आदि का अध्ययन किया जाता है। इसी तरह देवकी जैन ने अफ्रीका-दक्षिण अमेरिका-प्रशांत महासागरीय देशों के साथ मिलकर कासाब्लांका ड्रीम्स नाम से एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था गठित की है जो तीसरी दुनिया की बहुत तेजी से गरीब हो रही स्त्रियों के सशक्तीकरण के संस्थागत विकल्प तलाशने का काम करती है।

मैसूर राज्य के दीवान रहे एक बंगलुरु स्थित परिवार में जन्मी देवकी जैन अपनी स्नातक की पढ़ाई पूरी करने के बाद उच्च अध्ययन के लिए ऑक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय के रस्किन कॉलेज गयीं। किशोरावस्था में देवकी जैन न्युरो सर्जन बनना चाहती थीं, पर इंग्लैण्ड में अपनी पढ़ाई के दौरान देवकी जैन श्रमिक वर्ग के पुरुषों और स्त्रियों के साथ रहीं। इस सान्निध्य ने उनके अर्थशास्त्रीय दर्शन को बहुत प्रभावित किया। भारत लौट कर देवकी जैन ने भारतीय सहकारी आंदोलन के लिए काम करना शुरू किया। वे विनोबा भावे

के भूदान आंदोलन में शामिल हो गयीं और पदयात्रा में भी भाग लिया। 1966 में देवकी ने प्रसिद्ध गाँधीवादी अर्थशास्त्री लक्ष्मी चंद जैन से विवाह किया।

अपने नारीवाद का स्पष्टीकरण देते हुए देवकी जैन का कहना है कि एक नारीवादी होने का अर्थ है स्त्रियों और उनके संघर्ष के साथ अपनी पहचान करना। 'मैं स्वयं को एक औरत के रूप में पहचानती हूँ; मैं हर उस स्थिति में जहाँ स्त्रियाँ उपेक्षित हो रही हैं, अपनी राजनीतिक सक्रियता देखती हूँ।' गाँधीवादी अर्थशास्त्र से प्रभावित देवकी जैन के अनुसार जहाँ समाजवाद उत्पादन के साधन के स्वामित्व में असमानता की बात करता है, वहीं गाँधी खपत में असमानता की बात कहते हैं। यदि लोगों में अतिशय उपभोग और अपव्यय के प्रति जागरूकता आये तो विश्व के विकास का ढाँचा ही बदल सकता है। 1968 में इतिहासकार रोमिला थापर ने दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स में कार्यरत युवा प्राध्यापिका देवकी जैन से *सेमिनार* पत्रिका के लिए स्त्रियों की अवस्था पर एक लेख लिखने का आग्रह किया। इस लेख को पढ़ कर भारत सरकार के प्रकाशन विभाग की निदेशक ने देवकी जैन को अंतर्राष्ट्रीय स्त्री वर्ष के उपलक्ष्य में संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के लिए भारतीय स्त्रियों की स्थिति पर एक किताब लिखने का सुझाव दिया। किताब-लेखन के लिए किये गये शोध के दौरान उनका इस तथ्य से सामना हुआ कि पुरुष और स्त्रियों के बीच आर्थिक असमानता बनाये रखने के लिए क्या-क्या तरीके अपनाये जाते हैं। स्त्रियों को आर्थिक रूप से गरीब बनाये रखने के लिए समाज में रूढ़िवादी परम्पराओं का सहारा लिया जाता है। कार्यस्थल में कम मज़दूरी दी जाती है। उन पर घर, बच्चों और परिवार की ज़िम्मेदारी तो डाल दी जाती है। सरकारी आँकड़ों में झूठी जानकारी देने का व्यापक षड्यंत्र भी चलता रहता है।

यह जानकारी देवकी जैन को विचलित करने के लिए काफ़ी थी। इसी से प्रेरित होकर उन्होंने 1974 में इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल स्टडीज़ ट्रस्ट स्थापित किया। यह एक ऐसा संस्थान है जो आर्थिक विपन्नता के दुष्चक्र में फँसी स्त्रियों के बारे में तथ्य एवं आँकड़ों पर आधारित शोध-कार्य करता है ताकि नीति-निर्धारण के लिए प्रभावकारी सुझाव दिये जा सकें। अपने सर्वेक्षणों के माध्यम से इस संस्थान ने भारत में पहली बार बीस से अधिक ऐसी व्यावसायिक गतिविधियों की सूची तैयार की जिसमें उत्पादन-चक्र में सबसे मुख्य भूमिका निभाने के बावजूद भी स्त्रियाँ बिल्कुल अदृश्य थीं। इस शोध के द्वारा इन अदृश्य भूमिकाओं में स्त्रियों के वेतन, कौशल-विकास और काम के दौरान होने वाले खतरों की रोकथाम के लिए कारगर उपाय ढूँढ़ना था। इसी वर्ष देवकी जैन इला भट्ट के संगठन सेवा (सेल्फ़ एम्प्लॉयड वुमन एसोसिएशन) से जुड़ीं।

1981 में देवकी जैन व प्रमुख स्त्री-विचारकों ने मिल कर भारत में स्त्रियों से संबंधित अध्ययन पर पहली बार एक राष्ट्रीय अधिवेशन आयोजित किया। इसमें स्त्री-अध्ययन को विश्वविद्यालयों के विषयों में समाहित करने तथा स्त्रियों की समस्याओं पर विश्वविद्यालयों में शोध, अनुसंधान, शिक्षण और संबंधित गतिविधियों में भागीदारी पर जोर दिया गया। 1982 में इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इण्डियन एसोसिएशन ऑफ़ वुमंस स्टडीज़ या स्त्रियों से संबंधित अध्ययन का भारतीय संगठन) स्थापित हुआ। देवकी जैन 1984 में बंगलुरु में स्थापित सिंगाम्मा श्रीनिवास फ़ाउंडेशन की न्यासी हैं। इस फ़ाउंडेशन का उद्देश्य आर्थिक रूप से कमजोर स्त्रियों के सशक्तीकरण का प्रयास करना और इन स्त्रियों को विकासात्मक गतिविधियों से जोड़ना है। इसी तरह देवकी जैन ने 1991 में इंजीनियरों और वैज्ञानिकों का अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्क स्थापित किया जो निरस्त्रीकरण और अंतरराष्ट्रीय शांति, विज्ञान में नैतिकता, तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी द्वारा न्याय और टिकाऊ विकास पर ध्यान केंद्रित करने का अभियान चलाता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की कई समितियों में देवकी ने अग्रणी भूमिका निभायी है लेकिन साथ में उन्होंने इस संगठन की कमियों को भी उजागर किया है। देवकी जैन का विचार है कि सम्प्रभुता के अभिभावक और महान उद्देश्यों की उर्वर भूमि होने के स्थान पर संयुक्त राष्ट्रसंघ केवल एक सामाजिक सेवा का संगठन बन कर रह गया है जिसका एकमात्र कार्य मानवीय सहायता बाँटना है। देवकी जैन संयुक्त राष्ट्र में कॉरपोरेट हितों के दबदबे की भी बड़ी आलोचक हैं। अमेरिका द्वारा इराक पर आक्रमण किये जाने पर इस संगठन की निष्क्रियता के खिलाफ़ उन्होंने अपना मुखर असंतोष व्यक्त किया। देवकी जैन का कहना था कि संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव को इस आक्रमण के विरोध में इस्तीफ़ा दे देना चाहिए था।

देवकी जैन निर्धनता का नारीकरण करने की पक्षधर हैं। उनके अनुसार गरीब लोगों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। गरीबी का दंश पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों को अधिक विकल करता है। स्त्रियों में निर्धनता बढ़ने का एक कारण दुनिया में ऐसे घरों की संख्या बढ़ना है जिनमें स्त्रियाँ मुखिया हैं। देवकी के अनुसार दुनिया में गरीबी घटाने के लिए दुनिया की सारी स्त्रियों को एक साथ जुटाना होगा। देवकी जैन आम आदमी की अवधारणा के समक्ष आम औरत को खड़ा करती हैं। देवकी के अनुसार व्यक्तिगत गरिमा व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था पर निर्भर करती है। यह आम औरत हर जगह है लेकिन कहीं भी एक मज़बूत राजनीतिक शक्ति नहीं है। आम औरत की आर्थिक स्थिति स्थानीय सामाजिक रीति-रिवाज़, स्थानीय मौसम के बदलते मिज़ाज, और स्थानीय ज़मीन में पैदा होने वाले अनाज पर टिकी हुई है।

देवकी जैन को यकीन है कि यह ज़िम्मेदार आम औरत विभाजित और असमान भारत को एक न्यायसंगत और प्रगतिशील समाज में बदल सकती है। वे सेवा का उदाहरण देती हैं जहाँ दस लाख असंगठित क्षेत्र की स्व-रोज़गार करने वाली स्त्रियों की अपनी यूनियन है। लिज्जत (पापड़ बेलने वाली औरतों की विभिन्न सहकारी समिति) में 42,000 स्त्रियाँ हैं। अमूल डेरी सहकारी समिति में स्त्रियों की संख्या 24.7 लाख है।

देवकी जैन का मानना है कि पुरुषों के लिए स्वयं को इस तरह संगठित कर पाना और रख पाना असम्भव है, क्योंकि स्त्रियों में अपने घरों को बनाये रखने की इच्छा और घर-परिवार के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी समझने का सहज स्वभाव है जो उन्हें परस्पर सहयोग की संगठनात्मक श्रृंखला तोड़ने से रोकता है। उनके अनुसार यदि एक बार इस आम औरत को आजमा कर देखा जाये तो वे महान परिवर्तन का शुभारम्भ कर सकती है। देवकी जैन इस आम औरत की खास अर्थशास्त्री हैं।

देखें : संयुक्त राष्ट्र, इला भट्ट, ट्रस्टीशिप।

### संदर्भ

1. देवकी जैन (2006), *वुमॅन, डिवेलपमेंट ऐंड द यू एन : अ सिक्सटी इयर क्वेस्ट फ़ॉर ईक्वलिटी ऐंड जस्टिस*, ओरिएंट लॉगमन, नयी दिल्ली.
2. देवकी जैन (2011), *हार्वैस्टिंग फ़ेमिनिस्ट नॉलेज फ़ॉर पब्लिक पॉलिसी*, सेज पब्लिकेशनस, नयी दिल्ली.
3. देवकी जैन और पैम राजपूत (सम्पा.) (2005), *नैरेटिव्ज़ फ़ॉर्म द वुमॅन स्टडीज़, फ़ैमिली : रिक्वियेस्टिंग नॉलेज*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

— रवि दत्त वाजपेयी

## देवदासी

(Devdasi)

देवदासी प्रथा के मर्म में धार्मिक वेश्यावृत्ति है। इसके पीछे सेक्स को आध्यात्मिक मिलन और सम्भोग को मोक्ष का मार्ग मानने की धारणाएँ हैं। इस प्रथा को जारी रखने में धार्मिक विश्वासों, जातिगत ऊँच-नीच, पुरुष-प्रभुत्व और गरीबी के मिले-जुले पहलुओं की भूमिका रही है। दक्षिण भारत, महाराष्ट्र और ओडीशा के कई क्षेत्रों में प्रचलित इस प्रथा के तहत निचली जातियों के परिवारों द्वारा अपनी बेटियों का विवाह उनके रजस्वला होने से पहले मंदिर में स्थापित मूर्ति

के साथ कर दिया जाता है। रजस्वला होने तक ये लड़कियाँ अपने माँ-बाप के पास रहती हैं और फिर उन्हें मंदिर के पुजारी को सौंप दिया जाता है। इसके बाद इनका जीवन मंदिर में नृत्य-संगीत करते हुए और पुरोहितों समेत ऊँची जाति के पुरुषों की अंकशायिनी बनते हुए गुजरता है। दिलचस्प बात यह है कि प्राचीन और मध्यकाल की साहित्यिक और पुरालेखीय सामग्रियों में इन मंदिर-स्त्रियों के लिये सुले, सानी, भोगम और पात्रा जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। कन्नड़ और तेलुगु में इनका अर्थ है वेश्या। इन दोनों ही भाषा-क्षेत्रों में इस प्रथा की पुष्टि करने वाले आरम्भिक स्रोतों में इन अभिव्यक्तियों का प्रयोग होते देखा जा सकता है। इस सिलसिले में अक्सर यह तथ्य भी नज़र से ओझल हो जाता है कि इन मंदिर-स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होने वाला संस्कृतनिष्ठ शब्द देवदासी औपनिवेशिक काल की ही देन है। दरअसल, इसका इस्तेमाल धार्मिक वेश्यावृत्ति की पर्दापोशी करने के लिए किया जाता है। यह शब्द उन बुद्धिजीवियों ने गढ़ा और लोकप्रिय किया है जो अपने सचेत सुधारवादी कार्यक्रम के तहत मंदिर की वेश्याओं की अस्मिता की पुनर्चना करने की परियोजना चला रहे थे।

शहरी भारत को थमायी गयी सांस्कृतिक छवि देख कर ऐसा लगता है कि देवदासी वह स्त्री है जो मंदिर में भरतनाट्यम और ओडिसी जैसे शास्त्रीय नृत्यों की साधना करके अपने आराध्य देव को प्रसन्न करती है। कुछ विख्यात नृत्यांगनाओं के इस प्रकार के वक्तव्यों से भी इस छवि को बल मिला है। लेकिन, देवदासियों या मंदिर-वेश्याओं का इतिहास इतना मनोरम नहीं है। उत्तरी कर्नाटक के बेलगाँव जिले के सौदत्ती (जो धारवाड़ के समीप है) और शिमोगा के चंद्रगुट्टी स्थलों पर हर साल बसंत की प्रथम पूर्णिमा के दिन अनेक लड़कियों का देवी येल्लम्मा के साथ विवाह कराया जाता था। विवाह के पश्चात रजस्वला होने तक वे अपने परिवार के साथ रहती थीं फिर मंदिर के पुजारी को सौंप दी जाती थीं जो इनका प्रथम यौनिक उपभोग करता था। फिर इन लड़कियों को समाज के रंग-रुतबे वाले पुरुषों की काम पिपासा की पूर्ति के लिए भेजा जाता था या वेश्यावृत्ति के बाजार में बेच दिया जाता था। इन दलित/अछूत लड़कियों और उनके माता-पिता द्वारा सहजता से इस घृणित परम्परा को अपनाने के पीछे था देव/देवियों की मिथकीय संरचना का पुनर्सृजन। देवी येल्लम्मा का मिथक ऋषि जमदग्नि की पत्नी रेणुका के पुनर्जन्म से जुड़ता है जिसमें बताया गया है कि परशुराम द्वारा उनका सर काट लेने पर एक दलित मातंगी स्त्री का सर रेणुका के सर पर लगा कर ऋषि जमदग्नि ने उन्हें पुनर्जीवित कर दिया था। यहीं से येल्लम्मा दलितों और अछूतों की स्थानीय देवी के रूप में प्रकट होती हैं। उच्च जातीय पुरोहितों ने जातीय वर्चस्व की स्थापना के लिए इन्हीं

स्थानीय मिथकों का हिंदूकरण कर उसे अपने पक्ष में पुनर्परिभाषित कर लिया है। कहा जाता है कि यदि कोई दलित स्त्री अपना जीवन येल्लम्मा को समर्पित कर देती है तो अगले जन्म में वह स्वयं तो ब्राह्मण जाति में जन्म लेगी लेकिन अपने परिवार के लिए वह इसी जन्म में सौभाग्यदात्री बनेगी। येल्लम्माके समान ही रेनुकाम्बा और खंडोबा (विशेषकर बाँझ स्त्री के सन्दर्भ में) के मिथकों का भी समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। नतीजा, देवदासी प्रथा का प्रसार समाज के हर वर्ग/जाति में हुआ, विशेषकर आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में। तमिलनाडु में तो औपनिवेशिक सुधार प्रक्रिया के बाद भी यह प्रथा प्रचलन में रही है।

देवदासी को नित्यसुमंगली कहा जाता है क्योंकि वे कभी वैधव्य को प्राप्त नहीं होतीं और सुमंगली होने से वे समाज के लिए पूज्य और विशिष्ट हो जाती हैं। सौभाग्यदात्री विशिष्टता की इस प्रच्छन्न अवधारणा से भी देवदासी प्रथा को व्यापक स्वीकृति मिली है। राबर्ट बिफ्रो, जेम्स फ्रेज़र, जानकी नायर, ए. एसमैन, सस्किया केरसेनबुम स्टोरी, ए.बी.ए.जे. दुबोइ जैसे अनेक मानवशास्त्रियों और इतिहासकारों ने देवदासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्थितियों का विश्लेषण कर उनमें निहित छद्म, क्रूर और घृणित यौनाचार के वीभत्स रूपों का पर्दाफाश किया है। दुबोइ ने 1792 से 1823 के बीच भारत-भ्रमण के संस्मरणों में लिखा है कि मंदिरों में संलग्न नृत्यांगनाएँ / वेश्याएँ मुख्य रूप से ब्राह्मण पुजारियों के उपभोग के लिए थीं जो वेश्यादर्शनम् पुण्यं पाप नाशनम् जैसे निकृष्ट श्लोकों का पाठ करते थे। इनका अर्थ है वेश्या के साथ समागम पुण्य कर्म है जो पाप का नाश करता है। देवदासी प्रथा का यह रूप धर्म के नाम पर की जाने वाली वेश्यावृत्ति की ओर इंगित करता है जिसे स्वयं विष्णु के विभिन्न रूपों (पुरी के जगन्नाथ, तिरुपति के बालाजी) और येल्लम्मा (रेणुका), दाईमव्वा या दुर्गाश्वा जैसे देव/देवी मिथकों के माध्यम से संरक्षित किया हुआ था।

देवदासी प्रथा प्रचलन के प्रथम साक्ष्य के रूप में छठी शताब्दी में बने ब्रह्मेश्वर मंदिर के निर्माण के समय केशरी राजवंश की रानी कोलावती द्वारा मंदिर को अनेक देवदासियाँ भेंट करने के अभिलेखों को देखा जा सकता है। जिस समय सुल्तान महमूद ने सोमनाथ के प्रसिद्ध मंदिर को तोड़ा था, उस समय मंदिर की सेवा में तीन सौ पचास नृत्यांगनाएँ संलग्न थीं। 1360 में सुल्तान शाह द्वारा पुरी के जगन्नाथ मंदिर पर आक्रमण के पश्चात मंदिर में देवदासियों के वेश्यावृत्ति में संलग्न होने के प्रमाण मिले थे। जब इस मंदिर का निर्माण करवाया गया था तब जगन्नाथ स्वामी की सेवा के लिए 36 कोटियों के सेवक नियुक्त किये गये थे। देवदासियाँ उनमें से एक थीं।



मार्गलिन फ्रेदरीक ने इन देवदासियों की स्थिति पर विचार करते हुए लिखा है कि ये देवदासियाँ जातिगत या अन्य विभाजनों के ताने बाने से मुक्त थीं। आरम्भ में देवदासियाँ नृत्य-संगीत से ही संबंधित थीं और देवालयों से लेकर राजदरबारों और कुलीनों के सम्मुख अपनी कला (देवदासियों द्वारा विकसित और संरक्षित नृत्य दासीआर्टम-भरतनाट्यम का पूर्वरूप एवं पूर्वनाम) का प्रदर्शन करती थीं। पर शीघ्र ही पितृसत्ता और जातीय पदानुक्रमता के वर्चस्व को बनाये रखने के खातिर उनकी स्थिति में गिरावट आयी। इस आधार पर देवदासियों की भी दो कोटियाँ बनीं। एक तो गणिका और दूसरी वेश्या। देवदासियों को जबरन बल प्रयोग करके या धर्म का डर दिखाकर या बचपन से ही वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर किया जाता रहा है। जिस लड़की ने वेश्यावृत्ति से इनकार किया उसे बेहद कठोर सजा दी जाती थी ताकि वह बाकी लड़कियों के वेश्यावृत्ति करते रहने का कारण बन जाए। जोगन शंकर ने अलग-अलग स्थानों पर प्रचलित देवदासियों के अनेक नामों की चर्चा की है। आंध्र प्रदेश में इन्हें विलासिनी, कलावंत भोगम पात्रा, नर्तकी और जोगिनी नामों से जाना जाता था। महाराष्ट्र के जेजुरी में मुराली, केरल में मराली, असम में नाटिस, कर्णाटक में जोगती (अधिक वयस्क देवदासी के लिए) और बैसवी (कम वयस्क देवदासी के लिए), गोवा में भवानी और कुदिकार, पश्चिमी इलाकों में भोगम बंधी, तमिलनाडु में देवरादियाल, कालांतर में देवरादिआल अर्थात् वेश्या। सम्भवतः देवदासी शब्द देवरादियाल शब्द का ही तत्सम रूपांतर है।

भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी देवालियों में लड़कियों को अर्पित किये जाने और उनसे वेश्यावृत्ति करवाने के प्रमाण मिलते हैं। क़रीब ढाई हजार साल पहले प्राचीन यूनान, आर्मीनिया, ईरान, इस्फ़हान, फ़ोयेनीशिया में लोग अपनी लड़कियों को देवालियों में दे देते थे जो दर्शनार्थियों की वासना भी तृप्त करती थीं। कुछ समय पश्चात वे घर वापस आकर विवाह कर गृहिणी बन जाती थीं। यूनान की देवी अफ़्रोडाइट के मंदिर में एक समय एक हजार वेश्याएँ/देवदासी/देवदास नौकर थे।

अंग्रेजों के आने और शिक्षित मध्य वर्ग के उदय के फलस्वरूप देवदासी प्रथा की आड़ में पनपी वेश्यावृत्ति के उन्मूलन के प्रयास हुए। यह सुधार आंदोलन हमें कंदकूरी विरसालिंगम से लेकर मुथुलक्ष्मी रेड्डी तक के प्रयासों में दिखता है। देवदासियों द्वारा राजदरबारों, कुलीनों और अंग्रेज़ अधिकारियों के सम्मुख प्रस्तुत नृत्य को नाच की संज्ञा दी गयी जो मंदिरों में प्रस्तुत नृत्य से किंचित् भिन्न अधिक कामुक या अश्लील होता था। सुधारवादियों ने इसी नाच की प्रतिक्रिया में एंटी-नाच आंदोलन चलाया इसमें विरसालिंगम की मुख्य भूमिका थी। इन आंदोलनों के कारण देवदासियों

प्रथा को चलाये रखने के लिए मंदिरों/कुलीन जनों द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता और सामाजिक स्वीकार्यता में कमी आयी। देवदासी निवारण क़ानून भी बने।

देवदासियों का एक रूप धार्मिक अनुष्ठानों की ज्ञाता के रूप में भी है। विवाह के समय नित्यसुमंगली समझी जाने का कारण उनकी स्थिति अतिविशिष्ट हो जाती थी। वे कई वैवाहिक कर्मकाण्डों को भी सम्पन्न करवाती थीं। एंटी-नाच आंदोलन से धार्मिक वेश्यावृत्ति नहीं रोकी जा सकी। आज भी प्रतिवर्ष देवदासी उन्मूलन के अनेक क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ाते हुए लड़कियों का विवाह येल्लम्मा, रेनुकाम्बा या खंडोबा से कराया जाता है। 1929 का मद्रास हिंदू धर्मादा एक्ट, 1934 का बम्बई देवदासी अधिनियम तथा 1947 का देवदासी उन्मूलन अधिनियम भी देवदासियों की वास्तविक स्थिति को सुधारने में मददगार नहीं हो सका। मंदिरों में वेश्यावृत्ति की सारी तोहमत देवदासियों पर आयी और आरोपी पुजारी या उच्च वर्ग के लोग बेदाग़ छूट गये।

देवदासी प्रथा पर चर्चा करते समय उसके एक और पहलू को सामने लाना आवश्यक है। यौन-शोषण की इस जघन्य कथा में उनके सांस्कृतिक अवदान के सकारात्मक आयाम भी शामिल हैं। एक समय ऐसा था जब कुछ उच्च जातीय/वर्गीय स्त्रियों के अतिरिक्त मात्र देवदासियाँ ही शिक्षित होती थीं। देवदासी मुडुपलानी (1739-1763) रचित तेलुगु भाषा कृति राधिका सांत्वनम एवं उन्हीं द्वारा सप्तपदी छंद में आंडाल केतिरुप्पावे की तेलुगु रूपांतरित कृति की वर्षों तक उपेक्षा सिर्फ़ इसलिए की गयी कि उन्हें एक वेश्या द्वारा रचा गया था। बंगलोर नागरत्नम्मा (1878-1952), जो स्वयं एक देवदासी थीं, ने इस पुस्तक को सम्पादित कर 10 मार्च, 1910 को प्रकाशित कराया जिस पर नैतिकतावादी सुधारकों, विशेष रूप से विरसालिंगम की तीव्र प्रतिक्रिया के कारण 1911 में रोक लगा दी गयी। नागरत्नम्मा के जुझारू प्रतिवाद के बाद 1952 में रोक हटा ली गयी और इसे अविकल पुनर्प्रकाशित कर दिया गया।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, क़ानून और स्त्री, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवादी दर्शन, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सावित्रीबाई फ़ुले, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

## संदर्भ

1. कल्पना कन्नाबिरन (1995), 'जुडिशियरी, सोशल रिफॉर्म ऐंड डिबेट ऑन रिलीजस प्रॉस्टीट्यूशन इन कोलोनियल इण्डिया', *इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 30, अंक 43.
2. प्रियदर्शिनी विजयश्री (2009), *देवदासी या धार्मिक वेश्या? : एक पुनर्विचार*, अनु. विजय कुमार झा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. अनघा ताम्बे (2009), 'रीडिंग देवदासी प्रैक्टिस थ्रू पॉपुलर मराठी लिटरेचर', *इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 44, अंक 17.
4. ए. फ्रेदरीक मार्गलिन (1985), *वाइव्ज ऑफ गॉड-किंग : द रिचुअल्स ऑफ द देवदासीज ऑफ पुरी*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

## — श्रुति

## द्वैतवाद

(Dualism)

द्वैतवाद का दर्शन भारतीय और पश्चिमी संदर्भों में अलग-अलग तात्पर्य रखता है। पश्चिम में द्वैतवाद की स्थापना देकार्त ने सत्रहवीं सदी में की थी। उनसे चार सौ साल पहले तेरहवीं सदी में दक्षिण भारत में ब्रह्म सम्प्रदाय के संस्थापक मध्वाचार्य को द्वैतवाद की स्थापना का श्रेय जाता है। देकार्त और मध्वाचार्य के बीच केवल दो समानताएँ हैं। दोनों ही अपने-अपने युग में ज्ञान की स्थिति से असंतुष्ट थे और उसके विश्वसनीय आधार की खोज का प्रयास कर रहे थे। दूसरे, दोनों ही स्थापित मान्यताओं से संघर्ष करते हुए ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने की चेष्टा में थे। लेकिन पश्चिमी द्वैतवाद की केंद्रीय समस्या मस्तिष्क और काया का अलग-अलग अस्तित्व और उनके बीच के संबंध की व्याख्या करना था। भारत में यह दर्शन अद्वैतवाद के साथ वैचारिक संघर्ष के दौरान विकसित हुआ। इसके तहत मुख्य तौर पर पाँच भेदों को रेखांकित किया गया : ईश्वर और जीव के बीच भेद, प्रकृति और ईश्वर के बीच भेद, जीव और जीव के बीच भेद, जीव और जड़ के बीच भेद एवं एक जड़ वस्तु और दूसरी जड़ वस्तु के बीच भेद।

देकार्त से पहले पश्चिम में काया और मस्तिष्क का आपसी संबंध आम तौर से एकतरफा ही बताया जाता था। लेकिन देकार्त ने तर्क दिया कि सचेत विचार और अनुभव करने वाले कर्ता के रूप में वे महज़ एक पदार्थ नहीं हो सकते। उनकी प्रकृति में ऐसा कुछ जरूर होना चाहिए जो अ-भौतिक है। इसलिए देकार्त ने दावा किया कि उनकी

काया से एक आत्मा जुड़ी हुई है। इस तरह उनकी दलील यह बनी कि चूँकि मस्तिष्क और काया के पृथक अस्तित्वों को कल्पित किया जा सकता है, तो यह भी माना जा सकता है कि ये दोनों एक जैसे नहीं हैं और एक-दूसरे के बिना भी रह सकते हैं। मृत्योपरांत प्रकाशित देकार्त की रचना *डिस्क्रिप्शन ऑफ द ह्यूमन बॉडी* (1647) में दिखाया गया है कि शरीर मशीन की तरह काम करता है। भौतिकी के नियमों के अनुसार उसमें विस्तार और गति है। दूसरी तरफ मस्तिष्क भौतिकी के नियम नहीं मानता और पाइनियल ग्रंथि के स्तर पर काया के साथ उसकी अन्योन्यक्रिया होती है। यह एक द्वैत है जिसमें मस्तिष्क काया का नियंत्रक है, पर काया भी उस मस्तिष्क को प्रभावित कर सकती है जो बुद्धिसंगत होते हुए भी भावावेग के अधीन हो जाता है। चूँकि देकार्त पशुओं को मस्तिष्कविहीन और पाइनियल ग्रंथि से वंचित मानते थे इसलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि मनुष्य के अलावा अन्य जीव पीड़ा की अनुभूति नहीं कर सकते। यह धारणा उन्हें जीवित पशुओं के अंगोच्छेदन पर आधारित प्रयोगों की तरफ ले गयी।

पश्चिमी दर्शन का जैसे-जैसे विकास हुआ, देकार्तियन द्वैतवाद द्वारा खड़ी की गयी इस समस्या का समाधान खोजने के कई प्रयास किये गये। वैज्ञानिक भौतिकवाद ने मस्तिष्क और मानस के बीच संबंध को पानी और एच-टु-ओ के बीच संबंध जैसा बताया। इसी के साथ द्विआयामी सिद्धांत प्रचलित हुआ जिसके अनुसार आत्मा भिन्न होते हुए भी काया से अलग नहीं है। अर्थात् एक व्यक्ति के भीतर दो आयाम होते हैं : मानसिक और कायिक। द्वैतवाद की एक क्रिस्म तात्त्विक द्वैतवाद मानस को आत्मा का पर्याय बताते हुए उसे अपदार्थीय करार देता रहा। उसने दावा करना जारी रखा कि काया के अंत के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रह सकता है। पश्चिमी व्यवहारवाद और भौतिकवाद की विभिन्न क्रिस्मों ने अपने-अपने ढंग से यह साबित करने की कोशिश की है कि एक विशुद्ध भौतिक संसार में विचार, संवेदन, अनुभूतियाँ और मानस संबंधी अन्य परिघटनाओं के लिए गुंजाइश तलाशी जा सकती है। लेकिन ये तमाम प्रयास चेतना और उसकी आत्मनिष्ठताओं की पूरी तरह से विश्वसनीय व्याख्या नहीं कर सके हैं।

भारतीय द्वैत-दर्शन यथार्थवादी विचार परम्परा की श्रेणी में आता है और बहुलवाद की वकालत करता है। मध्वाचार्य की स्पष्ट मान्यता थी कि दिक् और काल में स्थित वस्तु के संदर्भ के बिना कोई ज्ञान नहीं हो सकता। यहाँ तक कि विभ्रम भी किसी न किसी यथार्थ का द्योतक होता है। रस्सी को साँप समझने वाला प्रेक्षक वास्तव में साँप को ही देखने की अनुभूति से ही गुज़र रहा होता है। उसके लिए वही उसका तत्कालीन यथार्थ है। भारतीय दर्शन की यह शाखा चूँकि वेदों को अपौरुषेय मान कर चलती है, इसलिए उसे

द्वैत-वेदांत की संज्ञा भी दी जाती है। यह दर्शन पश्चिम की तरह काया और मस्तिष्क के भेद में नहीं फँसता। ऊपर बताये गये पाँच भेदों का निर्धारण करते हुए भी वह स्पष्ट करता है कि भेद होते हुए भी उनके अस्तित्व पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं हैं। परस्पर भिन्न होते हुए भी काया आत्मा पर निर्भर है और जगत ईश्वर पर। मध्वाचार्य ने यह मानने से इनकार कर दिया कि ईश्वर जगत का पार्थिव कारण है। उनका तर्क था कि जगत का पार्थिव कारण पदार्थ है और ऐसा न मानने से ईश्वर की लोकोत्तर सत्ता अक्षुण्ण नहीं रह पायेगी। सांख्य दर्शन की निगाह में भी सृष्टि-रचना इसी तरह हुई है। अंतर केवल यह है कि सांख्य दर्शन सत्त्व, रजस् और तमस् के तीन गुणों को पदार्थ का अंग न मान कर उनके पहले प्रभाव की तरह पेश करता है। इसके मुताबिक पार्थिव जगत के तीन मूलभूत गुण हैं : विशुद्ध, गतिज और स्थिर। वह प्रकृति अथवा पदार्थ को माया नहीं मानता। उसकी निगाह में प्रकृति यथार्थ और चिरंतन है जिसके माध्यम से ईश्वर की रचनात्मकता सक्रिय होती है।

मध्वाचार्य का संदेश था : जगत मिथ्या नहीं है, जीव को ब्रह्म का केवल आभास नहीं मानना चाहिए और ब्रह्म ही एक मात्र सत् नहीं है। यह प्रमाणित करने के लिए उन्होंने श्रुति और तर्क का सहारा लिया। उन्होंने पदार्थ के दस रूप बताने के साथ-साथ स्वतंत्र और अस्वतंत्र नामक दो तत्त्वों की पेशकश की। वे विष्णु के उपासक थे इसलिए उन्होंने इस देवता को दोषरहित और सम्पूर्ण करार दिया। जीव उनकी निगाह में अस्वतंत्र तत्त्व था। जीव और ईश्वर के भेद की व्याख्या करते हुए मध्वाचार्य ने अद्वैतवादियों के इस मत का खण्डन किया कि भगवान निर्गुण है। उन्होंने कहा कि ईश्वर सत्य, ज्ञान, आनंद और अनंत गुणों से परिपूर्ण है। वह एक

हो कर भी अनेक रूप धारण करता है। मध्वाचार्य के इस मत में निहित एक और बहुल के समीकरण के कारण बहुदेववाद को बल मिला जिसके मुताबिक हर व्यक्ति के लिए अपना निजी इष्ट देव रखने की सम्भावनाएँ खुल गयीं।

मध्वाचार्य के मत का प्रसार कन्नड़भाषी जनता में काफी देखा जा सकता है। इसके अलावा महाराष्ट्र, कर्नाटक, मैसूर और गोवा में भी उनके बहुत से अनुयायी मिलते हैं। हिंदी-क्षेत्र में मध्वाचार्य और द्वैतवाद का प्रभाव कम है।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, चार्ल्स-लुई द सेकोंद मोंतेस्क्यू, जॉन लॉक, जाक लकाँ, ज्यॉ-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, जाक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीजेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, फ्रेड्रिख नीत्शे-1 और 2,, बुद्धिवाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, युरोपीय पुनर्जागरण, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, ज्ञानमीमांसा।

### संदर्भ

1. बी. कार और आई. महालिंगम (सम्पा.) (1997), *कम्पैनियन इनसाइक्लोपीडिया ऑफ एशियन फिलॉसफी*, रॉटलेज, लंदन.
2. ए. चक्रवर्ती (1996), *माइंड-बॉडी डुअलिज़म*, डी.के. प्रिंटवर्ल्ड, नयी दिल्ली.
3. रेने देकार्त (1985), *द फिलॉसफिकल राइटिंग ऑफ देकार्त*, दो खण्ड, (सम्पादित और अनूदित : जे. कोटिघम, जे.आर. स्टूथॉफ और डी. मुरडोक, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे